वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४९ अंक १ जनवरी २०११

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक १

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३,५००

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द - आदि कालजयी विभूतियों के जीवन तथा कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करते हैं। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि उपरोक्त दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, न केवल पूरे भारतवर्ष, अपितु सम्पूर्ण विश्ववासियों के बीच पारस्परिक सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सर्वग्राही तथा उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्म-शताब्दी वर्ष १९६३ ई. से इस पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था। तब से ३६ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक उसी रूप में और पिछले १२ वर्षों से मासिक के रूप में अबाध गति से प्रज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है।

आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प - मात्र रु. ६०/- ; ५ वर्षों के लिए रु. २७५/- और आजीवन (२५ वर्षों के लिए) रु. १२००/- मात्र है। अपने मित्रों, परिचितों, प्रियजनों तथा सम्बन्धियों से इस वर्ष के लिए सदस्यता-शुल्क एकत्र करके या अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें अवश्य भेज दें।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति' मासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ नियम ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान - रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता - मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक - स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक - स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
स्वत्वाधिकारी - रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के ट्रस्टीगण -

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।
(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।
(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।
(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।
(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४९ जनवरी २०११ अंक १

पुरखों की थाती

अजरामरवत् प्राज्ञः विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीतमिव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ।।१।।

– बुद्धिमान व्यक्ति यदि विद्या या अर्थ का उपार्जन करना चाहे, तो उसे स्वयं को अजर-अमर सोचना चाहिए और यदि उसे धर्म या मुक्ति की कामना हो, तो वह स्मरण रखे कि मृत्यु सर्वदा ही उसके केश पकड़कर खींच रही है।

अहो किमपि चित्राणि चरित्राणि महात्मनाम्।
लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तद्भरेण नमन्त्यपि ।।२।।

– अहो! महापुरुषों का कैसा विचित्र स्वभाव होता है! एक ओर तो वे धन-ऐश्वर्य को तिनके के समान तुच्छ मानते हैं और दूसरी ओर उसकी प्राप्ति हो जाय, तो उसके भार से विनम्र भी हो जाते हैं।

अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनसहितः गन्धेनोग्रेण लशुन इव ।।३।।

– जैसे समस्त औषधीय गुणों से युक्त लहशुन केवल अपने उग्र गन्ध के कारण ही त्याज्य हो जाता है, वैसे ही अगणित गुणों से युक्त व्यक्ति या पदार्थ भी उसमें निहित एक ही अवगुण के कारण निन्दित या त्यक्त हो जाता है।

अर्थानाम् अर्जने दुःखम् अर्जितानां च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थो दुःखभाजनम् ।।४।।

– धन को अर्जित करने में और अर्जित किये हुए धन की रक्षा करने में बहुत दुःख उठाना पड़ता है। आय और व्यय दोनों में ही दुःख प्रदान करनेवाले, हे दुःख के आगार धन ! तुम्हें धिक्कार है !

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।५।।

– वह व्यक्ति अपना है या पराया – ऐसा विचार संकीर्ण चित्त के लोग ही किया करते हैं; परन्तु उदार चरित्रवालों की दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व ही एक परिवार है।

अति परिचयाद्-अवज्ञा सन्ततगमनादनादरो भवति।
मलयेभिल्लपुरन्ध्री चन्दनतरुकाष्ठमिन्धनं कुरुते ।।६।।

– अत्यधिक मेलजोल से अनादर का भाव आ जाता है, बारम्बार किसी के पास जाने से अपमान होने लगता है; उदाहरणार्थ मलय पर्वत पर चन्दन-वृक्षों की बहुतायत होने के कारण आदिवासी भीलनी उसी की लकड़ी को काटकर भोजन पकाने के लिए उपयोग में लाती है।

अमृतं किरति हिमांशुः विषमेव फणी समुद्गिरति।
गुणमेव वक्ति साधुः दोषमसाधुः प्रकाशयति ।।७।।

– जैसे चन्द्रमा अमृत ही बरसाता है और नाग विष ही उगलता है; वैसे ही सज्जन व्यक्ति सबके गुणों का ही वर्णन करते हैं, जबकि असाधु लोग सबके दोषों को ही उजागर करते रहते हैं।

अतिदानात् बलिर्बद्धो ह्यतिदर्पात् सुयोधनः ।
विनष्टो रावणो लोभाद्-अति सर्वत्र वर्जयेत् ।।८।।

– अत्यधिक दान के कारण दैत्यराज बलि बन्धन में पड़े, अति गर्व के कारण दुर्योधन का नाश हुआ और अति लोभ के कारण रावण की दुर्गति हुई; अतएव किसी भी कार्य में अति करना उचित नहीं है।

❖ (क्रमशः) ❖

रामकृष्ण-वन्दना

– १ –

(बहार–त्रिताल)

प्रगट हुए हैं आज धरा पर रामकृष्ण भगवान,
आओ सब आनन्द मनाएँ, है यह दिवस महान ।।

निशा जा चुकी घोर तमोमय,
उषा ला रही नव अरुणोदय,
जागी नयी चेतना सबमें, आया सुखद बिहान ।।

धर्म-जगत् की ग्लानि मिटाने,
साधु-सुजन के प्राण जुड़ाने,
कृपादृष्टि से करने सबका, भव-बन्धन से त्राण ।।

अपनी जीवन-ज्योति जगाकर,
सहज-सरल अति मार्ग दिखाकर,
करते हैं 'विदेह' जग-जन को, वरा-अभय का दान ।।

– २ –

(भैरवी–कहरवा)

प्रभु तुम फिर इस जग में आए ।
चिन्मय सुन्दर नरकाया धर,
राह दिखाने आए ।।

इस जड़युग में काम-लोभ का, फैला घोर अँधेरा था,
त्यागीश्वर हो जन-जीवन में,
ज्योति जगाने आए ।।

धर्म-अधर्म विषय इस जग में घोर विवाद छिड़ा था,
सत्य-धर्म का पाठ पढ़ाने,
वेदमूर्ति हो आए ।।

सब पन्थों के बीच परस्पर वैमनस्य फैला था,
सबका साधन कर उनमें
सद्भाव कराने आए ।।

साधु-सुजन के अन्तर में भी, भय-संशय फैला था,
धर्मप्रतिष्ठा कर 'विदेह', भव-भ्रान्ति मिटाने आए ।।

मेरा जन्म तथा बचपन

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय ही संन्यासी का जन्म होता है। संन्यास ग्रहण करके भी जो लोग इस उच्च उद्देश्य को भूल जाते हैं, उनका तो जीवन ही व्यर्थ है – **वृथैव तस्य जीवनम्**। दूसरों के लिए प्राण देने, जीवों के गगन-भेदी क्रन्दन को शान्त करने, विधवाओं के आँसू पोछने, पुत्रवियोग से पीड़ित अबलाओं को दिलासा देने, अज्ञ सामान्य जनता को जीवन-संग्राम में सक्षम बनाने, शास्त्रोपदेश का प्रचार करके सबका ऐहिक एवं पारमार्थिक मंगल करने और ज्ञानालोक देकर सबके भीतर प्रसुप्त ब्रह्म-केसरी को जाग्रत करने के लिए ही संन्यासी का जन्म होता है।... हम लोगों ने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये जन्म लिया है; और इसी लक्ष्य के लिये अपना जीवन बलिदान कर देंगे।[१]

मेरे माता-पिता ने कितने ही दिनों तक व्रत रखा और ईश्वर से प्रार्थना की थी कि उन्हें एक पुत्र की प्राप्ति हो।[२]

मैं जानता हूँ कि मेरे जन्म के पहले मेरी माता उपवास, प्रार्थना तथा और भी कितनी ही चीजें करती थीं, जिन्हें मैं पाँच मिनट भी नहीं कर सकता। उन्होंने ऐसा दो वर्ष किया। मेरा विश्वास है कि मुझमें जो भी धार्मिक संस्कार हैं, उसी के फलस्वरूप हैं। आज मैं जो भी हूँ, उस का निर्माण करने हेतु मेरी माँ ही प्रयासपूर्वक मुझे इस संसार में लायीं। मुझमें जो कुछ भी सद्गुण हैं, वह अचेतन रूप से नहीं, अपितु चेतन रूप से मुझे अपनी माँ से प्राप्त हुए हैं।[३]

मैं आज जो कुछ भी हूँ, उसे मुझे अपनी माँ से मिले हुए प्रेम ने बनाया है; और मुझ पर अपनी माँ का जो ऋण है, उसे मैं कभी चुका नहीं सकूँगा।[४]

मैंने अपनी माँ को कितनी ही बार दोपहर में दो बजे भोजन का पहला कौर मुख में डालते हुए देखा है। हम लोग सुबह दस बजे ही खा लेते थे, जबकि वे दो बजे खाती थीं, क्योंकि इसी दौरान उन्हें बहुत-से कार्य निपटाने होते थे। (जैसे कि) कोई अतिथि आकर दरवाजा खटखटा देता और रसोईघर में केवल माँ के लिये ही खाना बचा हुआ रहता। वे स्वेच्छापूर्वक उसे दे देतीं और फिर अपने लिये कुछ प्रबन्ध करने की चेष्टा करतीं। ऐसा ही उनका दैनन्दिन जीवन था और वे इसे पसन्द करती थीं। इसी कारण हम लोग माताओं की देवियों के रूप में पूजा करते हैं।[५]

मुझे एक बात याद है। जब मैं केवल दो वर्ष का था, तो भभूत लपेटे कौपीन पहने एक वैरागी का रूप धारण करके मैं अपने सईस के साथ खेला करता था। यदि कोई साधु भिक्षा माँगने आ जाता, तो घर के लोग मुझे ऊपर के कमरे में बन्द करके रख देते, ताकि मैं उसे बहुत कुछ न दे डालूँ। मुझे लगता कि मैं भी वैसा ही साधु था और किसी भूल के कारण शिवजी ने मुझे प्रताड़ित कर दिया है। वैसे मेरे परिवार के लोगों के कारण भी इस भाव में वृद्धि हुई थी, क्योंकि जब मैं शैतानी करता, तो वे लोग कहते, "हाय हाय, इतना जप-तप किया, तो भी शिवजी ने हमारे यहाँ किसी पुण्यात्मा को न भेजकर, इस भूत को भेज दिया है!" या फिर जब मैं बहुत अधिक विद्रोह करने लगता, तो वे लोग "शिव, शिव" कहते हुए मेरे सिर पर एक बाल्टी पानी ढाल देते। इसके बाद मैं बिल्कुल शान्त हो जाता। अब भी, जब कभी मेरे मन में दुष्टबुद्धि जागती है, तो यह शब्द मुझे शान्त रखता है।[६]

जब मैं छोटा था और पाठशाला में पढ़ता था, तो कुछ मिठाइयों के लिये मेरा अपने एक सहपाठी के साथ झगड़ा हो गया। वह लड़का अधिक बलवान था, इसलिये मिठाइयाँ उसने मेरे हाथ से छीन लीं। उस समय मेरे मन में जो भाव आया, वह मुझे याद है। मैं सोचने लगा कि इस लड़के के समान दुष्ट दुनिया में दूसरा कोई नहीं है और जब मुझमें ताकत आ जायगी, तब मैं इस दुष्ट को दण्ड दूँगा; इसकी दुष्टता को देखते हुए कोई भी दण्ड इसके लिये पर्याप्त नहीं होगा। अब हम दोनों बड़े हो गये हैं और परम मित्र हैं। इसी तरह इस संसार में सर्वत्र छोटे-छोटे बच्चे ही भरे पड़े हैं, खाने-पीने की तथा इन्द्रियों की अन्य भोग्य वस्तुएँ ही उनका

सर्वस्व है। ये बच्चे केवल इन मालपूओं का ही स्वप्न देखा करते हैं। भावी जीवन या परलोक-सम्बन्धी उनकी कल्पना भी यही है कि वहाँ भी पूरी-मालपुओं का ढेर लगा रहेगा।[७]

(रायपुर* जाने के मार्ग में) जंगलों का अपूर्व सौन्दर्य देखकर यात्रा का कष्ट मुझे कष्ट ही नहीं प्रतीत हो रहा था। जिन परमात्मा ने अयाचित भाव से पृथ्वी को ऐसी अनुपम वेशभूषा द्वारा सजा रखा है, उनकी असीम शक्ति तथा अनन्त प्रेम का पहली बार साक्षात् परिचय पाकर मेरा हृदय मुग्ध हो गया था। वन के बीच से होकर जाते हुए उस समय मैंने जो कुछ देखा या अनुभव किया, वह सदा-सर्वदा के लिये मेरे स्मृति-पटल पर दृढ़ रूप से अंकित हो गया।

विशेषकर एक दिन की बात उल्लेखनीय है। उस दिन हम उन्नत-शिखर विंध्य-पर्वत के निचले भाग के रास्ते से होकर जा रहे थे। मार्ग के दोनों ओर बीहड़ पहाड़ की चोटियाँ आकाश को चूमती हुई खड़ी थीं। तरह-तरह की वृक्ष-लताएँ, फल तथा फूलों के भार से लदी हुई, पर्वत-पृष्ठ को अपूर्व शोभा प्रदान कर रही थीं। अपने मधुर कलरव से समस्त दिशाओं को गूँजते हुए रंग-बिरंगे पक्षी कुंज-कुंज में घूम रहे थे, या फिर कभी-कभी आहार की खोज में भूमि पर उतर रहे थे। इन दृश्यों को देखते हुए मैं अपने मन में अपूर्व शान्ति अनुभव कर रहा था। धीर-मन्थर गति से चलती हुई बैलगाड़ियाँ क्रमश: एक ऐसे स्थान पर जा पहुँची, जहाँ पहाड़ की दो चोटियाँ मानो प्रेमवश आकृष्ट हो एक-दूसरे को स्पर्श कर रही थीं। उस समय उन शृंगों का विशेष रूप से निरीक्षण करते हुए मैंने देखा कि पासवाले एक पहाड़ में नीचे से लेकर ऊपर चोटी तक एक बड़ा भारी सुराख है और उस रिक्त स्थान को पूर्ण करते हुए मधुमक्खियों द्वारा युग-युगान्तर के परिश्रम के प्रमाणस्वरूप एक विशाल मधुचक्र लटक रहा है। उस समय मेरा मन विस्मय में मग्न होकर उस मक्षिका-राज्य के आदि एवं अन्त की बात सोचते-सोचते तीनों जगत् के नियन्ता ईश्वर की अनन्त उपलब्धि में ऐसा डूब गया कि थोड़ी देर के लिए मेरा बाह्य-ज्ञान पूरी तौर से लुप्त हो गया। मैं कितनी देर तक इस भाव में मग्न होकर बैलगाड़ी में पड़ा रहा, याद नहीं। जब पुन: होश में आया, तो देखा कि उस स्थान को पीछे छोड़कर काफी दूर निकल आया हूँ। बैलगाड़ी में मैं अकेला ही था, इसलिए यह बात अन्य कोई न जान सका।[८]

* १८७७ ई. में जब नरेन (विवेकानन्द) करीब चौदह वर्ष के थे, तभी उनके पिता अपने व्यावसायिक कार्यवश मध्य भारत (अब छत्तीसगढ़) के रायपुर नगर में गये। उन्होंने ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि बाद में नरेन पूरे परिवार को साथ लेकर वहाँ आ जायेंगे। इस यात्रा में बहुत-सा निर्जन रास्ता घने जंगलों से होकर पार करना पड़ा था, क्योंकि रेल-गाड़ियाँ तब तक केवल नागपुर तक ही चला करती थीं।

यह सच है कि संसार में दु:ख-कष्ट बहुत है, और इसलिए लोगों की सहायता करना हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ कार्य है; परन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि दूसरों की सहायता करने का अर्थ है, अपनी ही सहायता करना। मुझे स्मरण है, एक बार जब मैं छोटा था, तो मेरे पास कुछ सफेद चूहे थे। वे चूहे एक छोटे से सन्दूक में रखे गये थे और उस सन्दूक के भीतर उनके लिए छोटे-छोटे चक्के थे। जब चूहे उन चक्कों को पार करना चाहते, तो वे चक्के वहीं-के-वहीं घूमते रहते; और वे बेचारे कभी बाहर नहीं निकल पाते। बस, यही हाल संसार तथा संसार के प्रति हमारी सहायता का है। उपकार केवल इतना ही होता है कि उससे हमें नैतिक शिक्षा मिलती है।[९]

घर में शिक्षक के आते ही, मैं अंग्रेजी तथा बंगला पाठ्य-पुस्तकों को उनके सामने लाकर रख देता था और बता देता था कि आज किस पुस्तक में से कहाँ से कहाँ तक पढ़ना है। इसके बाद मैं चुपचाप बैठा या लेटा रहता। शिक्षक महोदय इस ढंग से उन पुस्तकों के कठिन-कठिन शब्दों का पद-विन्यास, उच्चारण और अर्थ की दो-तीन बार आवृत्ति करते मानो स्वयं ही पाठाभ्यास कर रहे हो। इसके बाद वे चले जाते। इसी से मैं उन पाठों को सीख लेता था।[१०]

थोड़ा अंकगणित, थोड़ा संस्कृत व्याकरण, थोड़ी भाषा और थोड़ा बही-खाता – बस, इतना ही प्राइमरी स्कूल में पढ़ाया जाता है। एक वयोवृद्ध अध्यापक द्वारा पढ़ायी गयी एक सदाचार की पुस्तक में से हमें एक पाठ कण्ठस्थ कराया गया था, जो मुझे आज तक स्मरण है –

गाँव की भलाई के लिए
मनुष्य अपने कुल को छोड़ दे।
देश की भलाई के लिए
मनुष्य अपने गाँव को छोड़ दे।
मानव-समाज की भलाई के लिए
मनुष्य अपने देश को छोड़ दे।
विश्व की भलाई के लिए
मनुष्य अपना सर्वस्व छोड़ दे।।*

पुस्तक में इसी प्रकार के भाव व्यक्त करने वाले पद्य हैं। इसे हम लोग कण्ठस्थ करते हैं और अध्यापक इसे विद्यार्थियों का समझा देते हैं।[११]

जब पहले दिन मैं स्कूल गया, तो मुझे जीवन में जो पहला श्लोक पढ़ाया गया था, वह था –

मातृवत् परदाराणि परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धय:।।**

* त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्राम्स्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।। महाभा. ५/३७/१७

** पंचतंत्र, अध्याय १, श्लोक ४३५

– जो व्यक्ति सभी नारियों में अपनी माता को देख पाता है, सभी लोगों की धन-सम्पदा को धूल के समान देख पाता है और प्रत्येक जीव के भीतर अपनी स्वयं की आत्मा को देख पाता है, वही सच्चा विद्वान् है।[१२]

जब मैं कलकत्ते में विद्यार्थी था, तब मेरी प्रकृति धार्मिक थी। मैं अपने जीवन के उस काल में भी विचार करता था, मुझे केवल शब्दों से ही सन्तोष नहीं होता था।[१३]

जन्म से ही (रात में) नींद आने पर आँखें मूँदते ही मुझे अपनी भौंहों के बीच एक अपूर्व ज्योति-बिन्दु दिखायी पड़ता था और मैं एकाग्र मन से उसके विविध परिवर्तनों को ध्यान से देखता रखता था। उसे ठीक से देखने के लिए जैसे मनुष्य भूमि पर सिर टेककर प्रणाम करता है, ठीक वैसे ही मैं बिस्तर पर लेट जाता था। वह बिन्दु विविध वर्णों में परिवर्तित होकर क्रमश: वर्धित होता हुआ बिम्ब रूप में परिणत हो जाता और अन्त में फूटकर मेरे सारे शरीर को शुभ्र तरल ज्योति से आवृत कर लेता था! ऐसी अवस्था होते ही मेरी चेतना लुप्त हो जाती और मैं निद्रा में डूब जाता था। मैं समझता कि सब मनुष्य इसी ढंग से सोने जाते हैं। यह धारणा बहुत दिन तक थी। बड़े होने पर जब मैंने ध्यान का अभ्यास आरम्भ किया, तो आँखे मूँदते ही वह ज्योति-बिन्दु पहले ही सामने आकर प्रकट होता था और मैं उसी में चित्त को एकाग्र कर लेता था। महर्षि देवेन्द्रनाथ (टैगोर) के उपदेश से जब मैं कुछ मित्रों के साथ प्रतिदिन ध्यान का अभ्यास करने लगा, तब हम आपस में विचार-विनिमय करते थे कि ध्यान करते हुए किसे कैसी उपलब्धि होती है! तब मैंने अपने उन मित्रों की बातों से समझा कि वैसा ज्योति-दर्शन किसी को नहीं हुआ है और उनमें से कोई भी मेरी तरह उस ढंग से लेटकर निद्रा में नहीं जाता है।[१४]

बचपन से ही मैं एक जिद्दी और दुस्साहसी था। नहीं तो क्या बिना एक कानी कौड़ी साथ लिए मैं सारी दुनिया घूमकर आ सकता था?[१५]

स्कूल में पढ़ते समय एक दिन रात में द्वार बन्द करके ध्यान करते समय मन भलीभाँति तन्मय हो गया। कह नहीं सकता कि कितनी देर तक इसी भाव से ध्यान करता रहा। ध्यान भंग हो गया। तब भी बैठा हूँ। इतने में ही देखता हूँ कि दक्षिणी दीवाल को भेदकर एक ज्योतिर्मय मूर्ति निकली और मेरे सामने खड़ी हो गयी। उसके मुख पर एक अद्भुत ज्योति थी, पर मानो कोई भी भाव न था – प्रशान्त संन्यासी मूर्ति। मस्तक मुण्डित था और हाथों में दण्ड-कमण्डल था। वह मूर्ति कुछ देर तक मेरी ओर टकटकी लगाकर देखती रही, मानो मुझसे कुछ कहेगी। मैं भी अवाक् होकर उसकी ओर देखने लगा। तत्पश्चात् मन कुछ ऐसा भयभीत हुआ कि मैं तत्काल द्वार खोलकर बाहर निकल आया। इसके बाद मैं सोचने लगा, क्यों मैं इस प्रकार मूर्ख के समान भाग आया, सम्भव है कि वह मुझसे कुछ कहती! परन्तु फिर कभी उस मूर्ति के दर्शन नहीं हुए। कितने ही दिन सोचा कि यदि फिर उसके दर्शन मिलें, तो उससे डरूँगा नहीं, वरन् वार्तालाप करूँगा; फिर दर्शन हुआ ही नहीं। ... इस विषय पर मैंने चिन्तन किया, किन्तु कोई ओर-छोर नहीं मिला। अब ऐसा लगता है कि मैंने उस समय भगवान बुद्ध को देखा था।[१६]

बचपन से ही बीच-बीच में किसी-किसी वस्तु, व्यक्ति या स्थान को देखते ही मन में आता कि मानो उससे मैं विशेष परिचित हूँ, इससे पहले मैंने उसे कहीं देखा है। स्मरण करने की चेष्टा करता, परन्तु कुछ भी याद नहीं आता था। तो भी यह निश्चय नहीं होता था कि उनसे मैं परिचित नहीं हूँ। बीच-बीच में मन में ऐसा भाव उठता था। कभी मित्रों के साथ बैठकर किसी स्थान में विविध विषयों की चर्चा चल रही है, उस समय उनमें से एक ने कोई एक बात कही – तुरन्त मुझे ऐसा लगा मानो इस घर में और इन व्यक्तियों के साथ इस विषय पर मैंने पहले भी वार्तालाप किया है और उस समय भी उस मित्र ने ऐसी ही बात कही थी। परन्तु फिर सोच-विचारकर मैं कुछ भी निश्चय नहीं कर पाता था कि कहाँ और कब इससे पहले ऐसी बातचीत हुई थी। जब मुझे पुनर्जन्मवाद के विषय में ज्ञात हुआ, तो सोचा – पूर्वजन्म में उस प्रकार के देश और पात्र से मैं परिचित था और उसी की आंशिक स्मृति कभी-कभी मेरे मन में उस प्रकार उपस्थित हो जाती है। बाद में समझा कि इस विषय में इस तरह की मीमांसा ठीक नहीं है। अब लगता है कि इस जन्म में मुझे जिन व्यक्तियों तथा विषयों से मुझे परिचित होना है, उन सभी को जन्म से पहले मैंने चित्र-परम्परा के रूप में देख लिया है और उन्हीं की स्मृति मेरे मन में इस जन्म में उठती रहती है।[१७]

प्रवेशिका परीक्षा के मात्र दो-तीन दिन पहले देखा कि रेखागणित का तो मैंने जरा भी अध्ययन नहीं किया है। तब सारी रात जगकर पढ़ने लगा और चौबीस घण्टों में रेखागणित की चारों पुस्तकों को पढ़कर उन पर अधिकार कर लिया।[१८]

मैंने बड़े परिश्रम के साथ बारह वर्ष अध्ययन किया और कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी. ए. पास किया।[१९]

छात्र-जीवन से ही कोई भी पुस्तक पढ़ते समय ग्रन्थकार का वक्तव्य समझने के लिये मुझे उसकी प्रत्येक पंक्ति पढ़ने की आवश्यकता नहीं होती थी। हर पैराग्राफ की प्रथम और अन्तिम पंक्तियाँ पढ़ते ही मैं समझ लेता था कि उसके भीतर क्या कहा गया है। धीरे-धीरे वह शक्ति परिपक्व होने पर हर पैराग्राफ पढ़ने का भी प्रयोजन नहीं होता था। हर पृष्ठ की प्रथम और अन्तिम पंक्तियाँ पढ़कर ही मैं तात्पर्य समझ पाता

था। फिर पुस्तक में जिस स्थान पर ग्रन्थकार ने तर्क-युक्तियों द्वारा कोई विषय समझाया है, वहाँ यदि प्रमाण-उदाहरण आदि की सहायता से किसी युक्ति के समझाने में ४,५ या उससे अधिक पृष्ठ लगे हों, तो मैं उस युक्ति का आरम्भ मात्र पढ़कर ही उन पृष्ठों की सारी बातें समझ लेता था।[२०]

यौवन में पदार्पण करने के बाद से प्रतिदिन रात को लेटते ही दो कल्पनाएँ मेरी आँखों के सामने खिल उठती थीं। एक में मैं देखता, मानो मुझे प्रचुर धन, जन, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य प्राप्त हुए हैं; संसार में जो बड़े आदमी कहे जाते हैं, मैं उनके शीर्षस्थान पर पहुँच गया हूँ। ऐसा लगता मानो वैसा होने की शक्ति मुझमें सचमुच ही है। फिर अगले ही क्षण देखता, मानो मैं संसार का सर्वस्व त्यागकर केवल ईश्वर की इच्छा पर निर्भर रहकर कौपीन-धारण, यदृच्छा-लब्ध भोजन और वृक्ष के नीचे रात्रि-यापन करते हुए समय बिता रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता था कि मैं चाहूँ, तो इस प्रकार ऋषि-मुनियों की भाँति जीवन-यापन करने में समर्थ हूँ। इस तरह कल्पना में दो प्रकार के जीवन बिताने के चित्र उदित होने पर, अन्तिम चित्र ही हृदय पर अधिकार कर बैठता था। मैं सोचता – व्यक्ति उसी पथ से परम आनन्द का लाभ कर सकता है, मैं भी वैसा ही करूँगा। उस समय उस प्रकार के जीवन का आनन्द सोचते-सोचते मन ईश्वर-चिन्तन में निमग्न हो जाता और मुझे निद्रा आ जाती। आश्चर्य की बात यह है कि बहुत दिनों तक मन में वैसा ही भाव आता रहता था।[२१]

मिथ्या समझकर मैंने कभी किसी लड़के को भूत, प्रेत या हौआ का डर नहीं दिखाया और घर में उस तरह यदि कोई बच्चों को डराता, तो मैं उसे बहुत फटकारता था। अंग्रेजी पढ़कर और ब्राह्म-समाज के सम्पर्क के कारण मेरी वाचिक सत्य-निष्ठा यहाँ तक बढ़ गयी थी।[२२]

इस (१९वीं) शताब्दी के प्रारम्भ में ऐसा भय था कि धर्म का कहीं ध्वंश न हो जाय। वैज्ञानिक अनुसन्धानों के हथौड़ों के प्रबल प्रहारों से पुराने अन्धविश्वास चीनी मिट्टी के बर्तनों की भाँति चकनाचूर हो रहे थे। जिनके लिए धर्म केवल कुछ मतवादों और निरर्थक अनुष्ठानों का पुंज मात्र था, उनकी हालत नाजुक थी, उनकी समझ में कुछ आ ही नहीं रहा था। सब कुछ जैसे उनके हाथों से खिसकता जा रहा था। कुछ समय के लिए तो ऐसा लगा कि अज्ञेयवाद और भौतिकवाद के उमड़ते ज्वार में सब कुछ विलीन हो जायेगा। ...

बालक के रूप में मेरा इस संशयवाद के साथ परिचय हुआ और कुछ समय के लिए लगा, मानो मैं धर्म-सम्बन्धी सारी आशाओं को छोड़ ही दूँ। परन्तु सौभाग्य से मैंने ईसाई, इस्लाम, बौद्ध तथा अन्य धर्मों का अध्ययन किया और मुझे यह जानकर आश्चर्य हुआ कि जो मौलिक सिद्धान्त हमारे धर्म में सिखाये जाते हैं; वे ही अन्य धर्मों में भी हैं। मैंने इसे इसी ढंग से पसन्द किया। मैंने पूछा – सत्य क्या है?[२३]

जब मैं इस कलकत्ता शहर में एक बालक था, तो धर्म की शिक्षा के लिए इधर-उधर जाया करता था और लम्बे-चौड़े व्याख्यान सुनने के बाद वक्ता महोदय से पूछता था, "क्या आपने ईश्वर को देखा है?" ईश्वर-दर्शन के नाम ही से उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता। एकमात्र श्रीरामकृष्ण परमहंस ही मिले, जिन्होंने कहा, "हाँ, मैंने ईश्वर को देखा है।" केवल इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने यह भी कहा, "मैं तुम्हें भी उनके 'दर्शन' का मार्ग दिखा सकता हूँ।"[२४]

सन्दर्भ-सूची –

१. The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, 1989, Vol 2, P. 243 (युगनायक विवेकानन्द, स्वामी गम्भीरानन्द, खण्ड ३, प्रथम सं., पृ. ५-६; विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड ६, पृ.६७); **२.** विवेकानन्द साहित्य, प्रथम सं., खण्ड १, पृ. ३१२; **३.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. २०३; **४.** वही, खण्ड ९, पृ. २०३; **५.** वही, खण्ड ९, पृ. २०४; **६.** The Master as I saw Him, Sister Nivedita, सं.१९६२, पृ.१६४; **७.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. १४७; **८.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, नागपुर, सं.२००२, खण्ड २, पृ.८०५; **९.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ. ५०; **१०.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ.७९९; **११.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३२०-२१; **१२.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. २०५; **१३.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. २५८; **१४.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ.८१९; **१५.** युगनायक विवेकानन्द, प्रथम सं. खण्ड १, पृ. ४४; **१६.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ६, पृ. ८५-८६; **१७.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ. ८१९; **१८.** युगनायक विवेकानन्द, प्र. सं. खण्ड १, पृ. ५२; **१९.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ. ३२१; **२०.** श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड २, पृ.८००; **२१.** वही, खण्ड २, पृ.७९८ **२२.** वही, खण्ड २, पृ.८०४; **२३.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. २२७-२८; **२४.** वही, खण्ड ५, पृ. २३६

❖ (क्रमशः) ❖

साधना, शरणागति और कृपा (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा । जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनूपा ।। ...
नृप उत्तानपाद सुत तासू । ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू ।।
लघु सुत नाम प्रियब्रत ताही । बेद पुरान प्रसंसहिं जाही ।।
देवहूति पुनि तासु कुमारी । जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ।।
आदि देव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहिं कपिल कृपाला ।।...
तेहिं मनु राज कीन्ह बहु काला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला।
होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन ।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ।। १/१४२

– "स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नी शतरूपा ...से मनुष्यों की यह अनुपम सृष्टि हुई ।... राजा उत्तानपाद उनके पुत्र थे, जिनके पुत्र हरिभक्त ध्रुवजी हुए । मनुजी के छोटे पुत्र का नाम प्रियव्रत था... । देवहूति उनकी कन्या थी, जो कर्दम मुनि की प्रिय पत्नी हुई, जिन्होंने आदि देव, दीनों पर दया करने वाले, समर्थ एवं कृपालु भगवान कपिल को गर्भ में धारण किया ।... मनुजी ने बहुत समय तक राज्य किया और सब प्रकार से भगवान की आज्ञा का पालन किया । यह सोचकर उनके मन में बड़ा दु:ख हुआ कि घर में रहते ही बुढ़ापा आ गया, पर विषयों से वैराग्य नहीं हुआ, जन्म श्रीहरि की भक्ति बिना व्यर्थ ही चला गया ।"

भगवान श्रीरामभद्र की महती अनुकम्पा से मुझे विवेकानन्द जयन्ती के इस पावन प्रसंग में उपस्थित होने का सौभाग्य मिला । पिछले वर्ष नहीं आ सका । वैसे तो भगवान की कथा जहाँ भी कही जाय, वह मंगलमयी कल्याणमयी है, पर इस महानतम आश्रम में, इस आध्यात्मिक भूमि में, जहाँ परम श्रद्धेय सत्यरूपानन्द जी महाराज के निर्देशन में साधकों के द्वारा साधना और सेवा का संचालन हो रहा हो, यह इतने आनन्द तथा सौभाग्य का अवसर प्रतीत होता है कि यहाँ बोलकर मैं स्वयं में भी एक धन्यता का अनुभव करता हूँ ।

अभी आपके सामने कुछ पंक्तियाँ पढ़ी गईं । इन पंक्तियों में महाराज मनु की वंश-परम्परा का वर्णन हुआ है । हमारी पौराणिक पद्धति वंश-परम्पराओं को बड़ा महत्त्व देती है । पुराण ग्रन्थों के वक्ता बहुधा उसका वर्णन नहीं करते । श्रोता के लिये भी वह उतना आकर्षक नहीं होता, परन्तु पुराणों में वंश-परम्पराओं का विस्तृत वर्णन मिलता है । गोस्वामीजी की शैली में वंश-परम्पराओं का वर्णन नहीं के बराबर है । यहाँ तक कि यदि आप जानना चाहें कि महाराज दशरथ के पिता का क्या नाम था, तो आपको 'मानस' में नहीं मिलेगा । यदि आप जानना चाहें कि दशमुख रावण के पिता कौन थे, तो उनका नाम भी आपको मानस में नहीं मिलेगा । कई बार कुछ अद्‌भुत श्रोता कुछ अद्‌भुत प्रश्न करते हैं, पूछते हैं कि रावण के नाना का क्या नाम था? मैं संकट में पड़ जाता हूँ । पहले तो उसके पिता के ही नाम का पता लगाना चाहिये ।

इससे ऐसा लगता है कि गोस्वामीजी की वंश-परम्परा के वर्णन में कोई रुचि नहीं है । परन्तु एक प्रसंग अपवाद है, जिसमें उन्होंने कई पंक्तियों में वंश-परम्परा का वर्णन किया है । महाराज श्रीदशरथ किस वंश में हुए? रघुवंश के नाम से वंश का नाम भले ही आया हो, परन्तु हम अन्य ग्रन्थों के माध्यम से ही अज, दिलीप आदि अन्य नामों को जान पाते हैं, मानस में उनका कोई वर्णन नहीं है ।

पर मनु की वंश-परम्परा का विस्तार उन्होंने कई पंक्तियों में दिया है । इस विस्तार के पीछे उनका उद्देश्य बड़ा महत्त्व -पूर्ण है । इतिहास की विधा में वंश-परम्परा का बड़ा महत्त्व है, पर गोस्वामीजी ने यहाँ जो वंश-परम्परा दी है, उसका उद्देश्य इतिहासपरक नहीं, अपितु साधनापरक है । इन पंक्तियों में गोस्वामीजी कहते हैं कि मनु और सतरूपा वे हैं, जिनसे मानव जाति का जन्म हुआ है । जो नरसृष्टि के जनक हैं । महाराज मनु के द्वारा मनुष्य का जन्म होता है । इस परम्परा में एक ओर उत्तानपाद हैं, जिनसे ध्रुव का जन्म हुआ –

नृप उत्तानपाद सुत तासू ।
ध्रुव हरिभगत भयउ सुत जासू ।। १/१४२/३

इस प्रकार वंश-परम्परा में गोस्वामीजी ने विशेष रूप से एक तो ध्रुव का उल्लेख किया है । और एक दूसरी परम्परा का वर्णन गोस्वामीजी करते हैं – मनु की ही एक पुत्री देवहुति हैं, जो ऋषि कर्दम की प्रिय पत्नी थी –

देवहूति पुनि तासु कुमारी ।
जो मुनि कर्दम कै प्रिय नारी ।। १/१४२/५

इन देवहूति की गर्भ से ही उन भगवान कपिल का जन्म हुआ, जिन्होंने सांख्य-शास्त्र का वर्णन किया ।

इसके मूल में गोस्वामीजी का उद्देश्य क्या है? गोस्वामीजी

वस्तुत: मानव-मन, मानव-जीवन और मावन-समाज की जो भिन्न-भिन्न मनो-स्थितियाँ हैं, उन्हीं की ओर संकेत करना चाहते हैं। मानस को ध्यान से पढ़ें, क्योंकि किसी भी ग्रन्थ के सही अर्थ को समझने के लिये उसकी एक पंक्ति ही पर्याप्त नहीं है। अधिकांश लोगों की समस्या यह होती है कि किसी भी ग्रन्थ की कोई एक पंक्ति, जो उनको प्रिय लगती है, उसी को वे उस ग्रन्थ का सिद्धान्त मानने की भूल कर बैठते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि वे उस ग्रन्थ के वास्तविक तात्पर्य को समझ पाने में असमर्थ हो जाते हैं।

एक बड़े महत्त्व का सूत्र यह है कि मानस के विभिन्न प्रसंगों में आपको परस्पर-विरोधी बातें मिलेंगी। शास्त्रों में तो विरोधी बातें हैं ही, परन्तु 'मानस' में भी जो पंक्तियाँ हैं, उनमें भी बड़ा विचित्र-सा विरोधाभास दिखाई देता है। किसी प्रसंग में आपको पुरुषार्थ की महिमा का वर्णन मिलेगा, तो किसी में प्रारब्ध की विलक्षणता की ओर संकेत मिलेगा। कहीं शरणागति की महिमा है, तो कहीं कृपा की महिमा मिलेगी। व्यक्ति यदि बिना सजग रहे पूरे ग्रन्थ को सामने रखकर विचार करे, तो उसे सन्देह हो सकता है कि एक स्थान पर एक बात कही जा रही है, दूसरे स्थान पर दूसरी बात। यह समस्या केवल रामायण की ही नहीं, बल्कि गीता की भी है। अर्जुन के समक्ष भी जब भगवान गीता का उपदेश देते हैं, तो उसे सुनकर अर्जुन के मन में जो बात आयी, उसे उन्होंने भगवान से निवेदन कर दिया – आपकी बातें सुनकर तो मेरी बुद्धि और भी अधिक भ्रमित हो गई –

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।। ३/२

वहाँ भी वही समस्या है, भगवान की बातें मिली-जुली हैं – परस्पर विरोधी हैं। कहीं वे स्वर्ग की निन्दा करते हुए दिखाई देते हैं और कहीं स्वर्ग को ही लक्ष्य बनाकर कर्म करने का आदेश देते हैं। वे कहते हैं कि अर्जुन तुम युद्ध करो। क्योंकि युद्ध करने से दो ही परिणाम होंगे – यदि तुम मारे जाओगे, तो तुम्हें स्वर्ग मिलेगा और यदि जीवित रहोगे तो पृथ्वी का भोग करोगे –

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।। २/३७

जब भगवान श्रीकृष्ण यह बात कहते हैं तो निश्चित रूप से वे स्वर्ग को बहुत बड़ी वस्तु बता रहे हैं। साथ ही यह भी कह रहे हैं कि जीत जाओगे तो पृथ्वी पर राज्य करोगे। मानो कह रहे हैं कि राज्य और उसकी सम्पत्ति का भोग बहुत बड़ी उपलब्धि हैं। परन्तु वे ही बाद में निष्काम कर्मयोग का उपदेश देते हैं। फिर जब यह कहते हुए दिखाई दें – हे अर्जुन, वेद तो त्रिगुण का ही प्रतिपादन करते हैं, तुम त्रिगुण से भी ऊपर उठ जाओ –

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।। २/४५

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ।। २/४२

यह कहते हुए वेदों की कुछ निन्दा करते हुए से लगते हैं, तो भगवान के ही वाक्यों में परस्पर विरोधाभास प्रतीत होता है। यही स्थिति 'मानस' की भी है। चित्रकूट में जब श्रीभरत सारे समाज को लेकर प्रभु के पास आते हैं, तो आने वालों में सबसे अधिक सोचनीय स्थिति महारानी कैकेयी की है। क्योंकि वे इतनी उपेक्षित हैं, लोगों की दृष्टि में वे इतनी घृणा की पात्र बन चुकी हैं कि जैसे ही वे वहाँ उस वातावरण में पहुँचती हैं, उन्हें लगता है – अगर पृथ्वी फट जाती और मैं समा जाती तो अच्छा था; यमराज मुझे मृत्यु दे देते, तो अच्छा था। उस समय उनकी ऐसी मन:स्थिति थी। उस स्थिति में एकमात्र भगवान श्रीराम ही ऐसे हैं, जो महारानी कैकेयी के साथ सबसे अधिक स्नेह से मिलते हैं और उनके हृदय से लग जाते हैं, उन्हें प्रणाम करते हैं और माँ कहकर सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं। प्रभु बोले – "माँ, तुम्हारा तो कोई रंचमात्र भी दोष नहीं है। तुमने तो जो कुछ किया है, वह मेरे हित के लिये ही किया है। मेरा कितना बड़ा सौभाग्य है कि तुम्हारे आदेश से मैं वन में आया और वन में आकर मुनियों का सत्संग प्राप्त किया।" परन्तु भगवान के इस तरह के वाक्यों से रानी को सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा – "यह तो तुम्हारी उदारता है, तुम्हारा शील है कि तुम मेरे कार्यों को इस तरह से अच्छा रूप देने की चेष्टा कर रहे हो। परन्तु यह सत्य नहीं है। सत्य तो यही है कि यह कार्य मेरा है, यह अपराध मेरा है, परन्तु तुम यदि उसे उस रूप में नहीं लेते, तो यह तुम्हारे शील तथा स्वभाव का परिचायक है।"

अब भगवान राम के सामने बड़ी कठिन समस्या है। वे पहले भी महारानी कैकेयी से कह चुके थे कि आपने मुझे वन भेजकर मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है। आज भी जब वे कहते हैं, तो कैकेयीजी को सन्तोष नहीं होता। भगवान फिर कहते हैं – "वैसे तो यह दोष नहीं है, परन्तु यदि इसे दोष ही मान लें, तो भी यह आपका दोष नहीं है।" – तो फिर किसका दोष है? भगवान बोले – "तुम तो जानती हो कि व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। एक व्यक्ति के द्वारा जो कार्य होता है, क्या वह स्वयं स्वतंत्रतापूर्वक करता है? नहीं, ऐसा नहीं है। ब्रह्मा ने जिस सृष्टि का निर्माण किया है, उसे नियंत्रित करने वाला काल है। व्यक्ति तो काल और कर्म के द्वारा नियंत्रित है। वह जो कुछ करता है, स्वतंत्र रूप से नहीं करता। यदि दोष हुआ भी है, तो वह तुम्हारा नहीं है।" – तो किसका है? – जब काल जैसा होता है, तब व्यक्ति की मन:स्थिति वैसी हो जाती है। यही मान लो कि तुमने काल की प्रेरणा से ऐसा किया। या फिर व्यक्ति का कोई कर्म होता है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति से ऐसा हो जाता है, यदि तुम यह मानती हो तो तुम्हारा यह कार्य कर्म के द्वारा नियंत्रित हो सकता है।

अत: इसमें तुम्हारा कोई रंचमात्र भी दोष नहीं है। काल, कर्म और विधाता के सिर दोष मढ़कर उन्हें सांत्वना दी –

पग परि कीन्ह प्रबोधु बहोरी।
काल करम बिधि सिर धरि खोरी।। २/२४४/८

अब भगवान श्रीराम का वाक्य या संकेत तो यह बताता है कि व्यक्ति स्वतंत्र नहीं है। वह काल के अधीन है, कर्म के अधीन है या ब्रह्मा के अधीन है। परन्तु क्या भगवान राम का यही सिद्धान्त है? वे ही भगवान श्रीराम जब राजसिंहासन पर विराजमान होते हैं और अयोध्यावासियों को बड़े स्नेहपूर्वक बुलवाकर उनके समक्ष एक भाषण देते हैं। उसमें प्रभु ने कहा – ''मेरे प्रिय नागरिको, ईश्वर ने तुम्हें मनुष्य का शरीर दे दिया और उसने इस शरीर का जो निर्माण किया है, इसमें परतंत्रता जैसी कोई वस्तु नहीं है।'' एक बड़ी अनोखी और तर्कसंगत बात उन्होंने कही – जैसे यदि एक व्यक्ति के चारों ओर कोई दीवार बनायी जाय तो स्वाभाविक है कि दीवार यदि ऊँची है, बहुत कठोर है, तब तो व्यक्ति बेचारा चारों ओर दीवार से घिरा हुआ है। व्यक्ति चारों ओर से जिस दीवार से घिरा हुआ है, उसका 'मानस' में नामकरण भी किया गया है। व्यक्ति के एक ओर काल है, दूसरी ओर कर्म है, तीसरी ओर स्वभाव है और चौथी ओर गुण है –

फिरत सदा माया कर प्रेरा।
काल कर्म सुभाव गुन घेरा।। ७/४४/६

– ''माया की प्रेरणा से काल, कर्म, स्वभाव और गुण से घिरा हुआ यह सदा भटकता रहता है।'' इसका अर्थ यह हुआ कि काल, कर्म, स्वभाव, और गुण के घेरे में घिरा हुआ व्यक्ति कुछ भी करने में स्वतंत्र नहीं है। परन्तु प्रभु ने कहा – नहीं, चारों ओर दीवाल होने पर भी उसमें एक दरवाजा भी है।

आप अपने रहने के लिए जो भवन बनाते हैं, उसमें भी दीवारें बनाते हैं। दीवारें आपके लिये सुरक्षा का भी हेतु हैं और साथ ही दीवार से आप घिरे भी हुए है। परन्तु जिस घर में जाकर आपको निश्चिन्तता की अनुभूति होती है, उस घर में आप द्वार भी अवश्य बनते हैं। अब आप यदि चाहें तो उस द्वार को बन्द करके भीतर की ओर से छिटकनी चढ़ा दीजिये और आप जब चाहें, तब द्वार खोलकर बाहर निकल जाइये। भगवान श्रीराम ने अयोध्यावासियों से कहा कि ईश्वर ने मनुष्य का जो शरीर बनाया, उसकी एक विशेषता है। अन्य जीवों के शरीर तो घिरे हुए हैं, परन्तु उन्होंने मनुष्य का शरीर जो बनाया है, उसमें एक द्वार भी बना दिया। उस द्वार का सदुपयोग अवश्य करना चाहिये।

प्रारम्भ तो कृपा से ही हुआ। कृपा शब्द तो सर्व-व्यापक है। भगवान राम कहते हैं कि ईश्वर अपनी कृपा से ही किसी को मनुष्य शरीर देता है। आपको इसके विरुद्ध वाक्य भी मिलेंगे। अन्यत्र माना जाता है कि मनुष्य शरीर उसके कर्म के परिणाम से प्राप्त होता है। परन्तु यहाँ भगवान कहते हैं कि नहीं, यह मनुष्य शरीर केवल ईश्वर की कृपा का परिणाम है। क्योंकि मनुष्य यदि पहले पशु या पक्षी या किसी अन्य योनि में था, तो उनमें तो वह ऐसा कोई साधन कर नहीं सकता कि जिससे उसे मनुष्य का शरीर मिले। अत: व्यक्ति को मनुष्य शरीर जब मिलेगा, कृपा से ही मिलेगा –

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही।। ७/४४/६

भगवान राम ने उस समय जो व्याख्या की, सर्वत्र वही व्याख्या नहीं है। इसीलिये मैंने एक वाक्य कहा कि आप किसी भी ग्रन्थ के किसी एक पंक्ति को पकड़कर उसी को सिद्धान्त मानने की भूल न करें। कहीं आपको यह प्रतिपादन भी पढ़ने को मिलेगा कि मनुष्य-शरीर अनेकानेक सत्कर्मों का परिणाम है। इसको मैं अभी और विस्तार नहीं करना चाहता। बस, गोस्वामीजी की 'विनय-पत्रिका' (१८९) की उस पंक्ति की स्मृति दिला दूँ, जिसमें उन्होंने एक बड़ी मीठी बात कही है। उन्होंने कहा है कि मनुष्य का शरीर एक डोली के समान है। इसके बॉस पुराने हैं। इसका साज आड़ा-टेढ़ा है –

बाँस पुरान साज सब अठकठ
सरल तिकोन खटोला रे।।

सम्भव है कि किसी ने गोस्वामीजी से कहा हो कि आदमी जब किसी सवारी पर चलता है, तो उसे देख लेता है कि वह सवारी किस तरह की है। आप इसको बदल क्यों नहीं देते? गोस्वामीजी ने कहा – भाई, मनुष्य का शरीर यदि डोली की तरह है, इसको बदलने की कोई सम्भावना नहीं है। – क्यों? उत्तर में उन्होंने यह नहीं कहा कि मनुष्य का शरीर ईश्वर से मिला है। वे बोले – यह तो करमचन्दजी का दिया हुआ है। उन्होंने सेठ करमचन्द का नाम के साथ एक शब्द और भी जोड़ दिया – कुटिल करमचन्द –

हमहिं दिहल करि कुटिल करमचँद ...।।

करमचन्द का अर्थ यह है कि यह तो पूर्व जन्मों के कर्म का परिणाम है। अच्छा है, बुरा है, सुन्दर है, कुरूप है – जो भी है, करमचन्द का दिया हुआ है। परन्तु कुटिल कहने का अभिप्राय क्या है? करमचन्दजी ने शरीर देकर उपकार किया या संकट में डाल दिया? ये करमचन्दजी कैसे दाता हैं? मुझे वह गाथा याद आती है। बादशाह औरंगजेब बड़े कृपण स्वभाव का माना जाता था। एक कवि ने सोचा कि बादशाह को कविता सुनावें, तो प्रसन्न होकर शायद कुछ पुरस्कार दें। उन्होंने राजसभा में जब कविता सुनाई, तो औरंगजेब ने तुरन्त कहा कि इन्हें हाथी दे दो। दरबार में तहलका मच गया कि आज इतनी उदारता कि एक कविता पर हाथी दे दिया! उन्होंने आज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करके बताया था कि कौन-सा हाथी देना। कवि ने जब जाकर देखा, तो हाथी चलने-फिरने

में असमर्थ हो चुका था। बिल्कुल बूढ़ा था। उन्होंने उसी को देने के लिये लिख दिया था। कवि समझ गये कि हम इस हाथी पर चढ़ेंगे या हाथी ही हम पर चढ़ेगा। हाथी स्वस्थ होता तो मैं चढ़ता, पर जब इसको ले जाकर केवल बैठाकर खिलाना है, दवा करनी है, तब तो यह मेरे सिर का बोझ ही बननेवाला है। उन्होंने व्यंग्य में एक अन्य कविता लिखी और एक बार फिर दरबार में जाकर औरंगजेब को यह नयी कविता सुनाई कि आपने हाथी ही नहीं दिया, बल्कि बड़ा ऐतिहासिक हाथी दे दिया। कवि ने स्मरण किया – तैमूर लंग ने इस हाथी को खरीदा, बाबर ने इसको चलाया, अकबर ने इसका काम घटा दिया, जहाँगीर ने इसे छुट्टी दे दी और आज आपने वह महान् ऐतिहासिक हाथी देकर जो अदभुत उदारता दिखाई है, उसके लिये मैं क्या कहूँ!

तैमुरलंग ने मोल लई, चली बाबर के हलके ।।

यह तो बड़ा कुटिल दान हुआ। देनेवाले को लगे कि वह दे रहा है, पर वस्तुत: बोझ लाद दे। गोस्वामीजी कहते हैं – यह शरीर ऐसा है कि हम जीवन भर शरीर की रक्षा में ही लगे रहें, शरीर की सेवा में ही लगे रहें। इसलिये उन्होंने कहा कि यह तो कुटिल करमचन्द का दान है। परन्तु यहाँ भगवान राम कहते हैं कि ईश्वर अपनी करुणा से मनुष्य शरीर देता है। पूरा विरोधाभास लगता है। ऐसे विरोधी वाक्य क्यों आते हैं? इस विषय में कुछ बातें स्पष्ट करने की चेष्टा की जायेगी। परन्तु भगवान ने कहा था कि ईश्वर ने करुणा करके जो शरीर दिया है, वह साधना का घर है और उसमें परतंत्रता प्रतीत होने पर भी एक द्वार खुला हुआ है। – कौन-सा द्वार? इस शरीर में मोक्ष का द्वार खुला हुआ है –

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा ।। ७/४३/८

पशु-पक्षियों के लिये सम्भव ही नहीं है कि वे अपने को बदल सकें। पर मनुष्य के लिये सम्भव है, क्योंकि मोक्ष का द्वार खुला हुआ है। ऐसी स्थिति में इस दुर्लभ योग को पाकर भी जो व्यक्ति इसका सदुपयोग नहीं करता, वह भाग्यहीन है। ऐसे लोग दिखाई देते हैं, जो ईश्वर को दोष देने लगते हैं, कर्म को दोष देने लगते हैं, काल को दोष देने लगते हैं। यह सब बिल्कुल झूठी बात है। जिन श्रीराम ने कैकेयीजी से कहा कि यह तुम्हारा दोष नहीं है; काल, कर्म, ईश्वर का दोष है; उन्हीं श्रीराम ने यहाँ कह दिया – काल का कोई दोष नहीं, कर्म का कोई दोष नहीं, ईश्वर का कोई दोष नहीं –

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताई ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ ।। ७/४३

– वह परलोक में दु:ख पाता है, सिर पीट-पीटकर पछताता है तथा (अपना दोष न समझकर) काल पर, कर्म पर और ईश्वर पर मिथ्या दोष लगाता है।

ये जो अलग-अलग परस्पर-विरोधी बाते हैं, ये यदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा कहीं जायँ, तो ऐसा लग सकता है कि शायद यह उनका अपना व्यक्तिगत सिद्धान्त हो। परन्तु एक ही व्यक्ति यदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से अलग-अलग प्रकार की बात करे, तो इसका क्या अभिप्राय है?

इसको हम एक दृष्टान्त के द्वारा समझने की चेष्टा करें। मान लीजिये कि कोई रोगी डॉक्टर के पास जाये और डॉक्टर उसे दवा दे। दवा से उसका रोग ठीक हो गया। बाद में उसे दूसरा रोग हुआ, तो वह फिर डॉक्टर के पास गया। मान लीजिये डॉक्टर ने पहली बार जो पीने की दवा दी, वह मीठी थी और दूसरी बार जो दवा दी, वह कड़वी थी। इस पर रोगी यदि चिकित्सक से कहने लगे – डॉक्टर साहब, यह आप क्या करते हैं? उस बार तो आपने मुझे बड़ी मीठी दवा दी थी, आज नाराज हैं क्या, जो कड़वी दवा पिला रहे है? बुद्धिमान डॉक्टर कहेगा कि तब आपका रोग दूसरा था और आज तुम्हारा रोग दूसरा है। दवा व्यक्ति को नहीं दी जाती है, वह तो रोग को देखकर दी जाती है और यही महत्त्वपूर्ण सूत्र है। अत: महत्त्व इस बात का नहीं है कि वाक्य किसने कहा, बल्कि किसके लिये कहा और उस व्यक्ति के जीवन में कौन-सी मानसिक रोग या समस्या है या किस प्रकार की मानसिक ग्रन्थि है कि उसके लिये यह बात कही जा रही है। ये जितने भी शास्त्रीय वाक्य हैं, ये सब-के-सब सिद्धान्त-परक नहीं है। सिद्धान्त का उपयोग भी व्यक्ति के मन की, उसके जीवन की समस्याओं का समाधान करने के लिये है। जिस समय जिस तरह की मनस्थिति वाला व्यक्ति आता है, उसके लिये जो अपेक्षित है, वही कहा जाना या किया जाना उचित है। कोई भी बात आप विभिन्न सन्दर्भों से जोड़कर देखें, तो वही बात कभी सही लगेगी, तो कभी गलत लगेगी। यदि आपको कोई रोग हो और आप किसी डॉक्टर के पास जाए और डॉक्टर कहे कि शरीर तो नाशवान है। एक-न-एक दिन तो मरना ही है, फिर दवा का चक्कर क्यों पालते हो। तो बात बिलकुल सही है, शरीर तो नाशवान है ही। अन्त में व्यक्ति की मृत्यु भी होती है। पद्मपुराण में तो यही कह दिया गया है – अस्थि, मांस, रुधिर से बने हुए इस तुच्छ शरीर के लिये तुम किस औषधि के फेर में पड़े हुये हो –

किं देहमस्थि-मांस-रुधिरे ...
किमौषधम् पृच्छसि मूढ दुर्मते ।
निरामयम् राम-रसायनं पिब ।।

डॉक्टर वही बात कह दे कि दवाइयाँ छोड़ दो, क्योंकि शरीर तो नाशवान है, तो क्या यह उचित होगा? दोनों बातें अपने-अपने स्थान पर सही हैं, परन्तु डॉक्टर ने सही व्यक्ति को और सही समय पर यह बात नहीं कही। मूल सूत्र यह है कि जो वाक्य कहा जाय, उस पूरे वाक्य को उसके पूरे सन्दर्भ में देखें, तभी आप उसका सही अर्थ ले सकेंगे।

'मानस' में आद्योपान्त आपको यही विशेषता दिखाई देगी। सूत्र यह है कि जैसे सभी व्यक्तियों का शारीरिक निर्माण अलग-अलग प्रकार से हुआ है, वैसे ही सबका मानसिक और बौद्धिक धरातल भी भिन्न-भिन्न है।

फिर हमारा सनातन धर्म पुनर्जन्मवादी भी है। आधुनिक मनो-विज्ञान-वेत्ताओं ने भी, मानसिक रोगों तथा उसकी चिकित्सा की दिशा में कुछ पद्धतियों का आविष्कार किया है। उसमें बहुधा देखा जाता है कि जब कोई व्यक्ति मनोचिकित्सक के पास जाता है, तो वह चिकित्सक उसे एकान्त में बिठाकर उससे पुरानी बातें पूछने लगता है, बचपन की बात पूछने लगता है। साधारण तो व्यक्ति को यह बड़ा विचित्र लगेगा कि तो हम रोग लेकर आये हुए हैं और ये कहाँ लड़कपन की बात लगाये हुए हैं। पर आधुनिक मनोचिकित्सा भी यह मानने लगा है कि मनुष्य के मन में कई तरह की भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं, भय उत्पन्न होते हैं, जिन्हें हम मनोविकार या मनोरोग कहते हैं, उसका जन्म कभी-कभी बाल्यावस्था की कुछ घटनाओं या कुछ व्यवहार से हो जाता है। चिकित्सक किसी तरह उस व्यक्ति की स्मृति में उसे उभारकर उस भ्रान्ति या भय के मूल उद्गम को समझ लेता है कि किस तरह उसके मन में भय उत्पन्न कर दिया गया और वह वृत्ति अब किस रूप में सामने आ रही है। माँ ने डराने के लिये कह दिया कि रात को भूत आ जायगा, तुम यहीं रहना। इसके पीछे उद्देश्य तो यह था कि डर से बालक चुपचाप घर में ही माँ के पास रहे, रात में इधर-उधर न जाये। पर माँ ने जो भूत की बात कह दी, वह उसके मन में भय तो उत्पन्न करेगा ही। उससे तात्कालिक लाभ तो हुआ कि बच्चा चुपचाप घर में माँ के पास बैठ गया, लेकिन बाद में वह भय किन-किन रूपों में उसके मन में भय की ग्रन्थि बन जायेगा, मन-में रोग उत्पन्न करेगा यह बात साधारण व्यक्ति नहीं समझ पाता।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक बाल्यावस्था में भी व्यक्ति के मन के रोगों का कारण ढूढ़ता है। पर हमारे शास्त्र और भी बहुत आगे बढ़कर विचार करते हैं। उनकी खोज केवल बाल्यावस्था तक नहीं है। आधुनिक विज्ञान की तो बाध्यता है कि उसके सामने जो जन्म है, वह उसी में कारण ढूढ़ेगा। इसके लिये उसको दोष नहीं दिया जा सकता, लेकिन जब हम पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं, तो गुरु या सिद्ध महापुरुष द्वारा यह पता लगाने की चेष्टा की जाती है कि आज किसी व्यक्ति के जीवन में कोई प्रक्रिया या कोई कार्य चल रहा है, तो उसका कारण और भी पीछे ढूढ़ते हैं। मान लीजिए किसी व्यक्ति ने एक अच्छे परिवार में, एक पवित्र वातावरण में जन्म लिया और परिवार के सभी लोग अच्छे स्वभाव तथा गुणों के हैं, परन्तु उस व्यक्ति का स्वभाव बिल्कुल उल्टा है, बिल्कुल प्रतिकूल है, तो स्वभावत: उसका कारण ढूढ़ने के लिये केवल बाल्यावस्था ही नहीं, बल्कि उससे पूर्व के जन्म की ओर ध्यान जाना चाहिये। यही हमारे चिन्तन की परम्परा है।

पूर्वजन्मों के इस विचार को गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका में एक रूप दिया है – मान लीजिये एक वृक्ष है; तो उसमें पत्तियाँ हैं, टहनियाँ हैं, डालियाँ हैं और एक तना है। यदि आप उसकी पत्तियों को गिनने की चेष्टा करें, तो वह एक लम्बा कार्य है। टहनियों को गिनना शायद उससे कुछ सरल है। डालियों को गिनना और भी सरल है। उसके बाद तना तो बस एक ही है। परन्तु वृक्ष के समझने के लिये जितना ऊपर दिखाई दे रहा है, केवल उतना ही नहीं है। उसकी जड़ भीतर फैली हुई है। इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं कि केवल इस जन्म में जीवन में जो कार्य हो रहे हैं, उसकी पत्तियों तथा डालियों को ही देखने की जरूरत नहीं है। इसके मूल की खोज करने की आवश्यकता है।

आपने सुना है – भक्ति का पथ इतना सरल है कि भक्ति करने से जन्म-मृत्यु रूपी संसार की जड़ अविद्या बिना किसी चेष्टा या परिश्रम के ही नष्ट हो जाती है –

भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृति मूल अबिद्या नासा।। ७/११९/८

यह पंक्ति रामायण की ही है। फिर गोस्वामीजी उत्तरकाण्ड में भी कहते हैं कि जो इसकी पाँच-सात चौपाइयों को भी हृदय में धारण कर लेता है, उसके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि पाँच तरह के विकार मिट जाते हैं –

सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्री रघुबर हरै।।७/१३०/२

बात तो सुनने में बड़ी सरल लगी, पर उस एक शब्द में उसको इतना कठिन बता दिया गया कि सारा आनन्द मिट जाता है। पहले तो लगता है कि पाँच-सात चौपाइयाँ पढ़ेंगे और दारुण अविद्या मिट जावेगी, पर उसके साथ एक शब्द जोड़ देते हैं – **उर धरै** – जो हृदय में धारण करेगा। यह **उर धरै** शब्द, है तो नन्हा-सा, परन्तु इसके द्वारा दूसरा कुछ कह देते हैं। पहले तो सुनने में इतना सरल मधुर लगा, लेकिन जब हृदय में धारण करने की बात आई, तो बहुत बड़ी समस्या आ गयी ! लोग इतना कहते हैं, सुनते हैं और बुद्धि से युक्तिसंगत भी लगता है, पर मनुष्य उसे हृदय में धारण करे, वह तो नहीं कर सका। गोस्वामीजी विनय-पत्रिका (८२) में बताते हैं कि क्यों नहीं धारण कर सका –

मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई।।

– ''यह मन मोह से उत्पन्न पापों से परिपूर्ण है, जो करोड़ों प्रयत्नों से भी नहीं छोड़ते। मन अनेक जन्मों से पाप में लिप्त रहने का अभ्यस्त हो गया है और उसमें अधिकाधिक लिपटता ही जाता है।'' इसका कारण यदि एक जन्म में होता, तो

शायद व्यक्ति के लिये जो उपाय किया जा रहा है, वह उपादेय हो जाता। परन्तु जन्म-जन्मान्तर से, गहराई में जो संस्कार पैठे हुए हैं, उनको मिटाना बड़ा कठिन है। वस्तुत: व्यक्ति का जो जीवन दिखाई दे रहा है, उसके पीछे अनगिनत जन्मों की श्रृंखला है और किस समय कौन-सा संस्कार हमारे जीवन में प्रगट हो जाता है, इसका कोई ठिकाना नहीं है। अच्छे परिवार में जन्म लेकर भी यदि किसी में दुष्प्रवृत्ति है, तो अवश्य उसके पूर्वजन्म का कोई संस्कार इतना प्रबल है कि सारा वातावरण मिलकर भी उसे बदल नहीं पा रहा है। आप यदि व्यक्ति के जीवन का विश्लेषण करेंगे, तो लगेगा कि उसमें जो विचित्रतायें दिखाई देती हैं, उनके पीछे उसके जन्म-जन्मान्तर के संस्कार हैं। उन संस्कारों से संचालित होनेवाला अच्छे-से-अच्छा व्यक्ति कभी बुरा बन जाता है और बुरे-से-बुरा व्यक्ति कभी अच्छा बन जाता है। बुरे व्यक्ति के अन्त:करण में अच्छे संस्कार के बीज होंगे। ऐसा कोई बुरा व्यक्ति हो ही नहीं सकता, जिसने कभी कोई भला कार्य न किया हो। यह असम्भव है। फिर ऐसा कोई अच्छे-से-अच्छा व्यक्ति भी नहीं होगा, जिससे कभी कोई भूल न हुई हो। खेत में बीजों के समान मनुष्य के मन में भी संस्कारों के बीज पड़े हैं। उनमें कुछ तो साधारण अन्न के बीज जैसे होंगे, पर कुछ भिन्न प्रकार के होंगे। संस्कार-बीजों के सन्दर्भ में कहा नहीं जा सकता है कि कब कौन-सा संस्कार अंकुरित हो जाय।

रामायण में प्रश्न उठाया गया कि महारानी कैकेयी इतनी उदार तथा सहृदय थीं। राम के प्रति उनका इतना स्नेह था, तो भी उनके मन में इतनी दुष्प्रवृत्ति कैसे जाग्रत हो गयी?

गोस्वामीजी ने उसका उत्तर यही दिया कि जैसे वर्षा होने पर पृथ्वी में छिपा हुआ बीज अंकुरित हो जाता है, वैसे ही कैकेयी के अन्त:करण में ये जो अच्छे चिह्न दिखाई दे रहे थे, उनके साथ-साथ उसमें दुर्भावना का बीज भी पहले से ही पड़ा हुआ था। कैकयी का अभिप्राय है कुसंग। कैकेयी हृदय में जो प्रवृत्तियाँ हैं, वे बिल्कुल दिखाई नहीं दे रही थीं, पर कुसंग के फलस्वरूप उनकी दुष्प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है –

बिपति बीजु बरषा रितु चेरी ।
भुइँ भइ कुमति कैकई केरी ।।
पाइ कपट जलु अंकुर जामा ।। २/२३/५-६

– विपत्ति (कलह) बीज है, दासी वर्षा ऋतु है, कैकेयी की कुबुद्धि (उस बीज के बोने के लिए) जमीन हो गई। उसमें कपट रूपी जल पाकर अंकुर फूट निकला। दोनों वरदान उस अंकुर के दो पत्ते हैं और अंत में इसके दु:ख रूपी फल होगा।

दूसरी ओर कभी सत्संग के प्रभाव से हमारी सत्प्रवृत्ति जाग्रत हो जाती है। व्यक्ति के जीवन में किसी सन्दर्भ से पूर्व जन्म के संस्कार सहसा प्रबल रूप से जाग्रत हो जाते हैं। इसको लेकर मीठे व्यंग भी किये गये हैं। भगवान कृष्ण को कीचड़ में लिपट जाना बड़ा प्रिय है। यशोदा मैया उन्हें बड़े प्रेम से स्नान कराती हैं, श्रृंगार करती हैं और खेलने के लिए भेज देती हैं, तो दो-चार क्षण में ही वे कीचड़ में लिपट जाते हैं। एक दिन जब उन्होंने कीचड़ में लिपटे हुए कृष्ण को देखा, तो क्रोध आ गया। कहा – मैं तो तुझे इतना स्वच्छ रखने की चेष्टा करती हूँ, फिर भी तू कीचड़ में लिपट जाता है, तो इसका कारण यहाँ तो हो नहीं सकता है, पूर्वजन्म में ही होगा, क्योंकि हमारे यहाँ तो सभी स्वच्छ रहते हैं, मैं भी, तुम्हारे पिताजी भी और मैं चाहती हूँ तुम भी स्वच्छ रहो। कृष्ण ने मुस्कुराकर देखा। माँ पूर्व जन्म की बात कोई योगी के रूप में नहीं बोल रही थी। बोल तो रही थी नाराजगी में, परन्तु उनकी नाराजगी की बात सुनकर उनको बड़ा आनन्द आया। माँ ने कहा – बस, मैं समझ गई कि तू पूर्व जन्म में तू क्या था ! भगवान ने पूछा – माँ, बताइये मैं क्या था? वे बोलीं – अवश्य तुम पूर्व जन्म में सूकर थे –

त्वम सूकरोसि गतजन्मपूतनारे ।

सूकर को कीचड़ इतनी प्रिय है और तुझे भी है, तो यह पूर्व जन्म के संस्कार से है। प्रभु ने मुस्कुराकर कहा – तुम ठीक ही तो कह रही हो। मैं पूर्वजन्म में सूकर भी तो बन चुका हूँ। भगवान के जो मत्स्य, कच्छप आदि अवतार हैं, उसमें उनका सूकर अवतार भी है।

मीन कमठ सूकर नरहरी ।
बामन परसुराम बपु धरी ।। ६/११०/७

इस प्रकार व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के भरे बने हुये हैं। अत: व्यक्ति के सामने जो समस्याएँ हैं, उसका समाधान भी किसी एक पद्धति से नहीं हो सकता। उसको रोग क्यों है, कैसे है, वह किस प्रवृत्ति का व्यक्ति है; यह सब देखकर उसको उसी के अनुसार औषधि देनी होगी। दूसरे प्रकार की औषधि कितनी भी अच्छी क्यों न हो, यदि उसके संस्कार भिन्न हैं, तो वह उसके लिये उपयोगी नहीं होगी। इसके आपको अनेक दृष्टान्त मिलेंगे।

अभी कृपा की बात आयी। सुग्रीव से मित्रता के बाद प्रभु ने कहा – बताओ, तुम वन में क्यों निवास करते हो? वे अपना दुखड़ा सुना गये। भगवान जब उनकी पूरी गाथा सुन चुके, तो बोले – अब तुम निश्चिन्त हो जाओ। मैं उस बालि का एक ही बाण से वध करूँगा; यदि वह ब्रह्मा और शंकर के शरण में जाय, तो भी बच नहीं सकता –

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ।। ४/६

सुग्रीव बड़े प्रसन्न हो गये। प्रारम्भ में तो उनको संशय था और यह संशय ही जीव की बहुत बड़ी समस्या है।

❖ (क्रमशः) ❖

आत्माराम के संस्मरण (३१)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

मीरज (१९३६)

बेलूड़ मठ से बुलावा आया है। संन्यासी ने निश्चय किया है कि वह बम्बई होकर मठ जायेगा। महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्दजी) के मंत्रशिष्य व्रजलाल शाह बड़े भक्त आदमी हैं। उनके प्रिय पुत्र से संन्यासी को भी बड़ा लगाव था। उन्होंने बताया, "वह टी.बी. (यक्ष्मा) रोग से ग्रस्त होकर मीरज के अस्पताल में है और आपको देखना चाहता है।" संन्यासी उनके साथ जाने को राजी हुआ। मीरज जाकर (पूना के मार्ग पर) टी.बी. अस्पताल में जाकर उसके साथ भेंट किया। वह बड़ा आनन्दित हुआ।

इसके बाद प्रश्न उठा कि रात में कहा ठहरा जाय! व्रजलाल बोले कि बच्चे के काटेज में ही रात बितायी जाय। संन्यासी आपत्ति व्यक्त करते हुए बोला, "तुम पिता हो, इसलिये रह सकते हो, परन्तु संन्यासी बिना-अनुमति नहीं रह सकता। उसी समय सुपरिंटेंडेंट फादर शाम का राउंड लगाते हुए उधर आये। उनसे रात्रिवास की अनुमति माँगने पर बोले, "असम्भव! किसी भी हालत में नहीं हो सकता।"

हारकर जब धर्मशाले में जगह खोजने गया, तो देखा कि वहाँ बहुत भीड़ थी। प्राय: सभी लोग अस्पताल में यक्ष्मा-रोगियों को देखने आये थे। स्थान नहीं था। अब क्या उपाय हो? स्टेशन के पास भी एक धर्मशाला है, परन्तु बहुत दूर है। इतनी दूर से आना-जाना बड़ा कष्टकर होगा।

व्रजलाल ने कहा, "अस्पताल के पीछे एक शिव-मन्दिर है। पास में जल भी है। बिल्कुल एकान्त है। चलिये, रात में वहीं रहेंगे।" संन्यासी बोला, "तुम्हें साथ लेकर बिल्कुल एकान्त में रहने का साहस नहीं होता। यदि कुछ हो जाय, तो मुश्किल हो जायेगी। चलो उस ओर दूसरा स्थान देखें।"

संध्या का अन्धकार बढ़ता जा रहा था। एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण गंगाधर परांजपे भी मानो दैवयोग से ही उधर जा रहे थे। उन्होंने पूछा, "इस संध्या के समय आप लोग उधर कहाँ जा रहे हैं?" व्रजलाल मराठी जानते थे, बोले, "रात बिताने के उद्देश्य से।"

– "पर वह तो चोर-डकैतों का अड्डा है। वहाँ क्यों?"

– "धर्मशाले में स्थान नहीं है, क्या किया जाय?"

ब्राह्मण – "हमारे मुहल्ले में एक धर्मशाला है। चलिये, उसमें स्थान मिल जायेगा।" इसके बाद वे बोले – "मेरे घर में एक बिल्कुल अलग कमरा भी है। यदि पसन्द हो, तो उसमें भी रह सकते हैं। सत्संग भी किया जायेगा।"

पहले वे अपने घर ले गये। मकान नया और काफी बड़ा था। रहने का निर्णय हुआ। उन्होंने संन्यासी के स्नान आदि के लिये जल ला दिया। स्नान हो जाने पर वे बोले, "हमारे घर में एक छोटा-सा ठाकुरघर है। यदि इच्छा हो, तो आप वहीं बैठकर संध्या-वन्दना कर सकते हैं।"

संन्यासी ने जाकर देखा कि ठाकुरघर में और कोई नहीं, स्वयं ठाकुर श्रीरामकृष्ण ही विराजमान हैं।

संन्यासी – "ओ व्रजलाल, दौड़कर आओ। देखो।"

व्रजलाल ने देखकर कहा – "ये तो गुरु महाराज हैं। कितने आश्चर्य की बात है!"

ब्राह्मण ने जब पूछकर जान लिया कि संन्यासी रामकृष्ण संघ का ही है, तब तो कहना ही क्या था! बोले – "उनकी दया से आज मेरी चौदह साल की इच्छा पूर्ण हुई। जब से यह मकान बनवाया है, मन में इच्छा थी कि रामकृष्ण संघ के किसी संन्यासी को घर में रखकर सेवा करूँगा। आपको तीन रात रहना ही पड़ेगा। किसी भी हालत में नहीं छोड़ूँगा।"

संन्यासी के पूछने पर बताया कि उन्होंने पूना में एक रामकृष्ण उत्सव देखा था। उसमें बैरिस्टर जयकर आदि ने जो भाषण दिये थे, उन्हें सुनकर ही उनके मन में श्रीरामकृष्ण के प्रति भक्ति का उद्रेक हुआ और वे इस चित्र को खरीद लाये। इसके बाद से – "ये ही मेरे सर्वस्व हैं।"

उन्हें अन्य कोई परिचय ज्ञात न था। संन्यासी ने उन्हें बम्बई के खार-आश्रम का पता देकर कभी वहाँ जाने को और पुस्तकें पढ़ने को कहा। उन्हें बताया कि मराठी में नागपुर से छपी एक पुस्तक के सिवा दूसरी कोई पुस्तक नहीं है। संन्यासी और व्रजलाल ने भी वहाँ तीन रात निवास किया।

उन ब्राह्मण की चेष्टा से ही ब्राह्मणों की ही 'शंकराद्वैत-समिति' की एक सभा में संन्यासी का वेदान्त पर हिन्दी में एक व्याख्यान हुआ। बहुत-से लोग आये थे।

उसके विषय में सुनकर रावराजा (मीरज-नरेश के भाई)

संन्यासी को निमंत्रण देकर किले में ले गये और राज-कुटुम्ब के लिये एक सभा की। एक रात उन्हीं के यहाँ रहा। सभा के बाद राजा की बहन ने अनेक प्रश्न किये थे। उन्होंने मराठी भाषा में प्रश्न किये और संन्यासी ने हिन्दी में उत्तर दिये। अगले दिन सुबह उन लोगों ने अपने पूजा का मन्दिर दिखाया। राजमहल के भीतर एक अलग कक्ष था। अहा, क्या ही सुन्दर मूर्ति थी वंशीवाले कृष्ण की! अष्टधातु की बनी हुई मूर्ति मानो सजीव थी। ऐसी जीवन्त कि नेत्र हटाये नहीं जा रहे थे। राजकुल की स्त्रियाँ ही पूजा-अर्चना करती हैं और भजन गाकर भगवान को सुनाती हैं। धन्य हैं ये लोग!

जलपान के बाद एक बार फिर विविध विषयों पर चर्चा हुई। अन्त में बहन ने कहा, "आप पूना होकर ही तो बम्बई जायेंगे! हमारे घर आइयेगा!" संन्यासी निमंत्रण के लिये धन्यवाद देकर बोला, "आपके पतिदेव के कहे बिना, केवल आपके निमंत्रण से मैं कैसे आऊँगा?"

वे – "क्यों, क्या मुझे अधिकार नहीं है?"

संन्यासी – "है भी और नहीं भी। हिन्दू मत से नहीं है, परन्तु वर्तमान मत से है।"

सब लोग खूब हँसे।

इसके बाद यह निश्चित हुआ कि संन्यासी पूना पहुँचकर उन्हें सूचित करेगा। पूना में सरदार मुदलियार के निवास पर ठहरना पहले से ही निर्धारित था। ये मिशन के भक्त तथा शुभ-चिन्तक थे। अस्तु।

उस दिन भिक्षा उन्हीं के यहाँ हुआ। भोजन ब्राह्मणों द्वारा नहीं, बल्कि उन स्त्रियों ने ही पकाया था। पुली पीठा खाने बैठा। देखकर संन्यासी ने रावराजा से कहा, "बंगाल में भी खूब बनाते हैं, परन्तु ऐसे ही खाते हैं। आप लोग तो देखता हूँ कि घी में डुबा-डुबाकर खाते हैं।" अंग्रेजी में यह बात कहकर इसे मराठी में अनुवाद कर देने का अनुरोध किया। इस पर वे बोले, "मेरी बहन बम्बई विश्वविद्यालय की ग्रैजुएट है।" आश्चर्य की बात! उनके साथ इतनी बातें हुईं, शास्त्रों पर चर्चा हुई, परन्तु उनके मुख से भूल से भी एक भी अंग्रेजी शब्द नहीं निकला! धन्य, धन्य!! अंग्रेजी का जरा-सा ज्ञान होने पर भी लोग फटफट किये बिना नहीं रह पाते; और ये ग्रैजुएट होकर भी कैसी निरभिमान हैं! वाणी पर कैसा संयम है! पता ही नहीं चलता कि इन्हें अंग्रेजी का ज्ञान है।

पूना (१९३६)

ट्रेन भोर के समय पूना पहुँची। जाड़े के दिन थे। दो वस्त्र तथा कम्बल के अतिरिक्त संन्यासी के पास और कुछ नहीं था। संन्यासी ने देखा कि स्टेशन पर केवल एक ही टैक्सी खड़ी है। पूछने पर पता चला कि वह सरदार मुदलियार का मकान जानता है। वे पूना के एक विशिष्ट व्यक्ति थे। ज्योंही गाड़ी में बैठा, त्योंही एक व्यक्ति ने आकर कहा, "बीस वर्ष बाद देश लौटा हूँ। दूसरी कोई गाड़ी दिखाई नहीं देती। मैं भी वहीं – शनवार पेठ में ही जाऊँगा। घर सड़क पर ही है। यदि कृपा करके लिफ्ट दें, तो बड़ा आभारी होऊँगा।"

संन्यासी राजी हुआ, परन्तु रास्ते में गड़बड़ी हो गयी। वे सज्जन अपना मकान पहचान न पाने के कारण इधर-उधर भटकाने लगे। संन्यासी ने टैक्सीवाले से कहा कि वह पहले उसे छोड़ दे, उसके बाद इन्हें लेकर ढूँढने का कार्य करे।

टैक्सी को एक बड़े मकान के सामने खड़ी करके वह बोला, "यही सरदार मुदलियार का मकान है। संन्यासी दस वर्ष पूर्व (१९२६ में) एक बार सरदार के मकान में अतिथि हुआ था। तब उसने सुन्दर पुष्पोद्यान के भीतर स्थित एक नया मकान देखा था, परन्तु यह तो ठीक सड़क पर ही बना हुआ एक पुराना महल था! उद्यान आदि कुछ भी नहीं था।

संन्यासी ने कहा, "यह नहीं हो सकता। उनके मकान के सामने तो बगीचा है और वह नया भी है। तुम पूछ आओ।"

तभी ऊपर से किसी ने संन्यासी का नाम लेकर पूछा – गाड़ी में क्या वे ही बैठे हैं? देखा – एक बड़े-बड़े नेत्रोंवाले एक सौम्य पुरुष कह रहे हैं – गाड़ी रोको। उतरकर नीचे आये। आते ही बोले, "सामान कहाँ है?" और उसकी छोटी -सी पोटली को स्वयं ही उठा लिया। संन्यासी ने पूछा, "यह क्या सरदार मुदलियार का मकान है?" वे बोले, "बातें बाद में होंगी, पहले भीतर चलिये।"

थोड़ा भीतर जाते ही देखा – वही मीरज की बहन खड़ी है और खूब हँस रही है। – "क्यों, आपने तो कहा था कि नहीं आयेंगे; और आ भी गये! कितने आश्चर्य की बात है! ये सरदार म्हेंदड़े थे – मीरज के बहनोई।

इसके बाद वे बोलीं, "स्नान आदि कर लीजिये, उसके बाद बातें होंगी।" संन्यासी के स्नान आदि कर आने के बाद सरदार ने कहा, "यह आपकी बहन का मकान है। आप जिस कमरे में चाहें, जाकर संध्या-वन्दना आदि कर सकते हैं। आपके लौटने के बाद हम लोग चाय आदि पीयेंगे।"

बैठकखाने के बगल के ही एक कमरे की ओर संन्यासी की दृष्टि गयी। उस कमरे का दरवाजा खोलते ही उसने देखा – मेज के ऊपर ठाकुर श्रीरामकृष्ण का एक छोटा-सा चित्र रखा है। वह किसी विद्यार्थी का कमरा था। उसी कमरे में थोड़ा ध्यान-जप आदि करने के बाद संन्यासी ने बाहर आकर देखा कि दम्पति तथा उनके एक बैरिस्टर मित्र बैठकर प्रतीक्षा कर रहे हैं। चाय लाया गया। उसे पीते-पीते उनके वे मित्र बोले, "आपकी ये बहन जिस दिन मीरज से लौटीं, उस दिन उन्होंने (सरदार) पूछा था – 'पिता के घर से क्या लाई हो?' उत्तर में इन्होंने (बहन) कहा – 'ला रही थी, परन्तु राजी नहीं

हुए; बोले कि तुम (सरदार) बुलाओगे तभी आऊँगा। सरदार मुदलियार के घर पर ठहरेंगे।' इस पर थोड़े चुप रहकर ये बोले थे – 'नहीं, वे हमारे यहाँ ही आयेंगे।' जब उन्होंने कहा, 'आपसे परिचय नहीं है और वे यह मकान भी नहीं जानते, तो फिर कैसे आयेंगे।' इस पर ये गम्भीर होकर फिर बोले, 'यहीं पर आयेंगे।' इसलिये हम लोग आगे तर्क न करके चुप रह गये, क्योंकि हम लोगों को लगा कि यह तो एक असम्भव बात है !

"फिर, आज सुबह ये बिना चाय पीये, आपकी प्रतीक्षा में सड़क के पास की उस खिड़की के पास जाकर बैठे रहे। और टैक्सीवाला सचमुच आपको इसी मकान में ले आया। इसके बाद आपके स्नान करने जाने पर इन्होंने कहा – यदि ये रामकृष्ण के होंगे, तो संध्या-वन्दन करने उसी कमरे में जायेंगे, क्योंकि केवल उसी कमरे में उनका चित्र है। और आप सचमुच ही स्वत: प्रेरित होकर उसी कमरे में गये।"

अद्भुत ! आश्चर्य ! यह क्या उनके मन की शक्ति से हुआ था, या फिर टैक्सीवाला भूल से मुझे उनके घर ले गया था !

सरदार मुदलियार को फोन कर दिया गया। वे मिलने के लिये आये और संन्यासी के वहाँ ठहरने पर प्रसन्न ही हुए।

वे लोग आग्रह करते हुए बोले, "आपको यहाँ तीन रात रहना ही होगा। बहन के घर तीन रात रहना ही पड़ता है।" संन्यासी अन्यत्र कहीं भी नहीं गया। तीन रात उन्हीं के घर बिताया। सरदार म्हेंदड़े भोर से ही लगातार एक के बाद एक तुकाराम के अभंग सुनाते तथा व्याख्या करते; और निरन्तर अश्रुपात् करते जाते। खाने के समय भी यह जारी रहता – खा नहीं पाते। दोपहर में एक घण्टा विश्राम करने के बाद चाय के समय से फिर अभंग* बोलना शुरू कर देते। रात में भोजन आदि के बाद बहन दो घण्टे शास्त्रीय संगीत सुनाती। उन कई दिनों तक ऐसा ही चला। सारे समय भगवद्-भाव में विभोर रहते। राजकुल के व्यक्ति हैं, ऐश्वर्यवान हैं, भोग्य वस्तुओं का कोई अभाव नहीं, तो भी इनका जीवन भक्तिमय है। धन्य हैं ये लोग ! धन्य है उनका कुल और देश !!

संन्यासी को सुबह स्नान करने की आदत थी, इसलिये उसने कह दिया कि उसके लिये पानी रख दिया जाय। और यह भी अनुरोध किया कि शौच आदि का स्थान कहाँ है और जल आदि कहाँ रखा रहता है।

प्रश्न हुआ – आप कितने बजे उठते हैं? कितने बजे स्नान आदि करते हैं? आदि, आदि।"

* अभंग – एक सुन्दर भजन के अन्त में एक प्रश्न रहता है, जिसका उत्तर अगले में रहता है। फिर उसके अन्त में भी वैसा ही प्रश्न रहता है – इसी प्रकार चलता है। सम्भवत: १५०० या उससे भी अधिक संख्या में ऐसे भजन उपलब्ध हैं।

– "यही कोई साड़े चार या पाँच बजे।"

– "ठीक है, आपको स्नान का जल मिल जायेगा।"

चार बजे के पहले ही उठकर देखा कि बहन लालटेन लिये शौचालय का रास्ता दिखाने के लिये हाजिर हैं। (इनके घर में बिजली नहीं थी)। इसके बाद स्नानघर दिखाकर पूछा – कपड़े कहाँ हैं और वे स्वयं उन्हें ले आयीं। स्नान के बाद कपड़े वहीं छोड़ देने को कहा। बोलीं, "यह सब हमारा कार्य है।" वाह ! आर्य संस्कृति का यह कैसा सुन्दर उदाहरण है !

तीन रात एक पल के समान बीत गये। सुबह से लेकर रात के ११-१२ बजे तक केवल भगवत्-चर्चा ! गृहस्थ होते हुए भी उनमें इतनी भक्ति और इतना अनुराग था ! और उनका समस्त व्यवहार इतना आदर्श था ! इनके मिलन ने संन्यासी के जीवन में जिस अपूर्व दिव्यता का अनुभव ला दिया था, वह उसके लिये एक परम सम्पदा थी।

मुम्बई की एलीफैंटा गुफा (१९४५-४८)

उन दिनों स्वामी विश्वानन्द मुम्बई आश्रम के महन्त थे। हर साल जाड़े के मौसम में वे संन्यासी को एक महीने के लिये बुलाते और स्वयं कहीं भ्रमण में चले जाते। उसी समय या उसके बाद संन्यासी एक सप्ताह के एकान्त-वास हेतु एलीफैंटा द्वीप पर चला जाता। उन दिनों सेन महाशय वहाँ के सुपरिंटेंडेंट थे। ये पूजनीय महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्दजी) के शिष्य थे और वे ही आग्रहपूर्वक वहाँ आने का निमंत्रण देते। इसमें दोनों का ही लाभ था – एक को पवित्र त्रिमूर्ति के पास निर्जन प्राप्त हो जाता और दूसरे को सत्संग मिल जाता। उस द्वीप पर मराठी मछुवारों के तीन गाँवों के अतिरिक्त अन्य किसी भद्र परिवार का निवास न होने के कारण उन्हें कोई संगी .... नहीं मिलता था। प्रतिदिन तीन घण्टों के लिये जब दर्शनार्थियों की भीड़ होती थी, केवल तभी उन्हें भद्रलोगों का दर्शन आदि हो पाता था। एक स्टीमर-सेवा थी, जो वहाँ आकर करीब तीन घण्टे ठहरती और फिर बम्बई लौट जाती। इसीलिये उससे आनेवाले यात्री जल्दी-जल्दी घूम-फिरकर देख लेते और लौट जाते। केवल रविवार के दिन दो सेवाएँ रहने के कारण वहाँ सारे दिन भीड़ रहती थी। द्वीप बड़ा ही सुन्दर है। कभी वह शैव सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण स्थान हुआ करता था। एक बड़ी गुफा में त्रिमूर्ति स्थापित है। यह गुफा मनुष्यों द्वारा (पहाड़ खोदकर) बनाई हुई है, जिसमें एक साथ ५०० से भी अधिक लोग आ सकते हैं। त्रिमूर्ति की अद्भुत् मुखाकृति देखकर मुग्ध रह जाना पड़ता है। यह मूर्तिकार की एक अपूर्व कृति है और इसका अद्वितीय कृतियों में एक नाम है। पास ही एक अन्य शिखर पर बौद्ध लोगों का भी स्थान था। द्वीप एक पहाड़ पर है – ग्रे रॉक – कठोर चट्टानों से बना हुआ है। पास के सभी

द्वीप उसी ग्रेनाइट के ही छोटे-छोटे पहाड़ हैं।

संन्यासी ने जंगल के भीतर बौद्ध लोगों के स्थान के ध्वंसावशेष का आविष्कार किया और सेन महाशय से अनुरोध किया कि वे पुरातत्त्व-विभाग को लिखकर वहाँ उत्खनन कराने की व्यवस्था करें। संन्यासी एक दिन दोपहर में उधर के जंगल में घूम रहा था और एक दृश्य को टकटकी लगाए देख रहा था, तभी एक हरे रंग का एक हाथ लम्बा साँप, जिसका मुख एक विशेष पक्षी के चोंच के समान था – वृक्ष की डालियों के भीतर से तीर के वेग से कूदकर संन्यासी की ठीक दाहिनी आँख के पास से होता हुआ दूर जा गिरा। एक सूत के अन्तर से वह आँख के लक्ष्यभेद से चूक गया था। उसके सफल होने पर संन्यासी की आँख चली जाती।

बाद में सेन साहब को बताने पर, वे बोले – उस पहाड़ पर उस तरह के साँप हैं और उनके प्रहार से गाँव के कई लोगों की आँख नष्ट हो चुकी है। उस द्वीप पर बहुत-से अन्धे स्त्री-पुरुष मिलते हैं। वे उसी साँप के शिकार हुए थे। इसमें सन्देह नहीं कि संन्यासी दैवकृपा से बच गया। उसे किसने बचाया? – निश्चय ही जगदम्बा ने !

युद्ध के समय उस द्वीप पर सेना की पलटन थी। एक विशाल हार्विट्जर तोप विशालकाय दैत्य के समान एक विशाल चक्के पर रखा हुआ था। कोई भी उसे जरा-सा धक्का देकर विभिन्न कोणों पर घुमा सकता था। उसे काम में नहीं लाया गया, क्योंकि जर्मन लोगों ने बम्बई के ऊपर आक्रमण नहीं किया, परन्तु तब भी पास के एक द्वीप पर गोलीबारी का अभ्यास चल रहा था। एक बार जब संन्यासी वहाँ था, तो खूब तोप चलाने का अभ्यास हो रहा था। उनके बिस्फोट के धमाकों से वह पहाड़ भी थर-थर काँप रहा था। विशेषकर गुफाओं के भीतर उनकी भीषण प्रतिध्वनि हो रही थी। बिस्फोट का धमाका कितना भयंकर हो सकता है, उसका संन्यासी ने अनुभव किया।

उसी समय विभाग के अधिकारियों के आदेश पर गुफा के ऊपर की मिट्टी हटा दी गयी थी, क्योंकि गुफा में कई स्थानों पर पानी टपकता था और कई जगह गड्ढों में भरा रहता था। टपकना बन्द करने के उपाय के रूप में मिट्टी की परत को हटाया जा रहा था। इसके फलस्वरूप Sound-absorbing (आवाज को सोखने के) पदार्थ का अभाव हो जाने से तोप की आवाज का चट्टान के ऊपर जोर का आघात लग रहा था। वह आघात इतना प्रचण्ड था कि गुफा के ऊपर की चट्टान पर अनेक जगह दरार पड़ गयी थी, जो पहले नहीं थी और इसके फलस्वरूप गुफा के गिर पड़ने की सम्भावना हो गयी थी।

सेन महाशय को बताने पर वे बोले, "क्या करूँ, अधिकारियों का आदेश है !" संन्यासी ने कहा, "यदि यह बात आप उन्हें अच्छी तरह न समझायें, तो बाद में आप ही विपत्ति में पड़ेंगे। इसलिये डाइरेक्टर को और चार्ज साहब को भी सूचित कीजिये। उन्हें एक बार तोप के अभ्यास के समय आकर देखने के लिये कहिये। इसमें डरने की कोई बात नहीं है। यह गुफा एक राष्ट्रीय सम्पत्ति है, इसे नष्ट नहीं होना चाहिये – इस विषय में आपको भी ध्यान रखना उचित है। ऊपर की मिट्टी हटाना – एक बड़ी भूल हुई है। लाट साहब के आने पर, धमाके के आघात के कारण जो हानि हो रही है, वह उन्हें दिखाने और बताने पर वे उसे तत्काल समझ लेंगे और उसके लिये कोई व्यवस्था करेंगे। हो सकता है कि वे यहाँ की तोप-अभ्यास ही बन्द करवा दें।"

बहुत समझाने पर उन्होंने साहस करके संन्यासी के निर्देश के अनुसार दो पत्र लिखे। पत्र पाते ही लाट साहब देखने आये और सब कुछ देखने-सुनने के बाद सेन महाशय को शाबासी देकर गये और अगले दिन से पासवाले द्वीप पर तोप का अभ्यास बन्द हो गया। संन्यासी तब वहीं था। कुछ दिनों के बाद पुरातत्त्व-विभाग के अधिकारी लोग आये और गुफा की छत को फिर से मिट्टी से ढकने का आदेश दे गये।

एक अन्य विषय में भी संन्यासी ने सेन महाशय के द्वारा लाट साहब को पत्र लिखवाया था। वह एक नन्दी की मूर्ति के विषय में था। पत्थर के उस विशाल सुन्दर नन्दी की मूर्ति को बहुत पहले बम्बई में लाकर सम्भवत: विक्टोरिया पार्क में रखा गया था। बाद में पुर्तगाली लोगों ने उसे पुर्तगाल ले जाकर लिस्बन में रखा था। पत्र का उद्देश्य था उसे पुर्तगाल के लोगों से वापस माँगना। वह पत्र पाकर भी लाट साहब बड़े खुश हुए थे और उत्तर में लिखा था कि उसे उचित विधि से वापस लाने हेतु वे पुर्तगाली सरकार के साथ चर्चा करेंगे।

❖ (क्रमशः) ❖
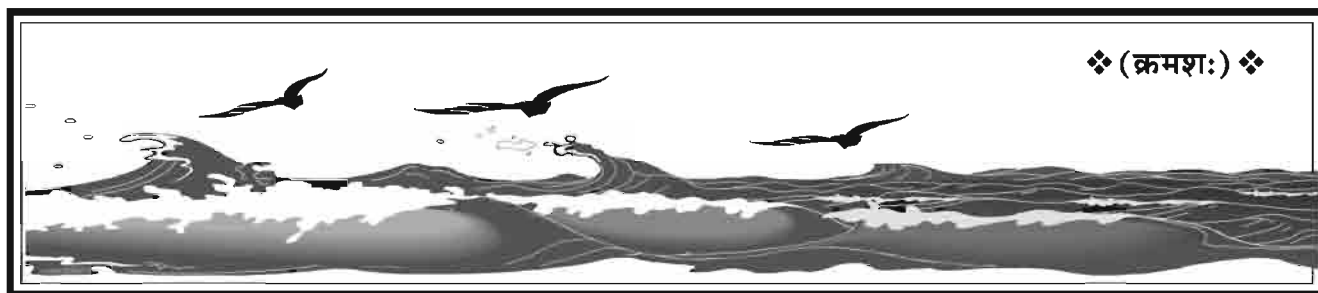
दृष्टिकोण का भेद

स्वामी सत्यरूपानन्द

नैतिक जीवन आध्यात्मिक उपलब्धि का प्रथम सोपान है। बिना नैतिकता के अध्यात्म पथ पर तनिक भी नहीं बढ़ा जा सकता। आध्यात्मिक उन्नति एवं उपलब्धि के बिना हमें स्थायी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। नैतिकता की परिणति पूर्णत: अन्तर्बाह्य शुचिता है। शुद्ध एवं पवित्र अन्त:करण में ही स्थायी शान्ति का आविर्भाव होता है। स्वार्थ तथा वासनाओं से सर्वथा रहित होने पर ही अन्त:करण शुद्ध होता है, तभी व्यक्ति शुचिता में प्रतिष्ठित हो पाता है।

हमारे जीवन में स्वेच्छा से लिया गया प्रत्येक निर्णय तथा स्वेच्छा से किया गया प्रत्येक कार्य हमारी नैतिकता की कसौटी है। इस प्रकार का प्रत्येक कार्य और विचार हमें नैतिक अथवा अनैतिक बनाता है। हमारे कर्मों के पीछे निहित उद्देश्य ही हमारी नैतिकता की सच्ची पहचान है। यदि कर्मों के पीछे हमारा उद्देश्य शुभ है तो हमारा आचरण भी शुद्ध होगा। और यदि कर्म के पार्श्व में हमारा उद्देश्य मलिन और अशुभ है तो ऊपर से शुद्ध दिखनेवाला हमारा आचरण भी वस्तुत: अनैतिक एवं अशुभ होगा। अत: कर्मों के पीछे रहनेवाला हमारा उद्देश्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह उद्धेश्य ही चरित्र निर्माण में हमारा सहायक होता है। कई बार बाह्य दृष्टि से देखने पर दो व्यक्तियों के कर्म एक समान प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके कर्मों के पीछे निहित उद्देश्यों के कारण उन व्यक्तियों के जीवन में आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है।

देवगुरु बृहस्पति के मेधावी पुत्र कच ने दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया। वह आश्रम में ही रहकर गुरु की सेवा तथा विद्याभ्यास किया करता। कच जैसे बुद्धिमान, शीलवान और परिश्रमी शिष्य को पाकर आचार्य प्रसन्न थे। वे उसे विशेष चेष्टापूर्वक विद्याभ्यास कराते। शुक्राचार्य की एक लावण्यमयी सुशीला कन्या थी। उसका नाम था देवयानी। आचार्य का अपनी कन्या पर अगाध स्नेह था। गुरु की विशेष स्नेहपात्री होने के कारण देवयानी कच की भी स्नेह भाजिका बन गयी। कच भाँति-भाँति से गुरु पुत्री का मनोरंजन करता। वन से उसके लिये विविध प्रकार के फल-फूल आदि लाता। उसके साथ खेलता। उसकी सुख-सुविधाओं का विशेष ध्यान रखता। देवयानी कच के व्यवहार से प्रसन्न तथा मुग्ध रहती। वह भी कच के कार्यों में यथासाध्य सहायता करती।

कच की शिक्षा समाप्त हुई। वह दुर्लभ विद्या का निष्णात अधिकारी हो गया। गुरुदेव ने उसे अपने घर जाने की अनुमति दे दी। कच ने आश्रम के सभी सहयोगियों और निवासियों से भेंट कर विदा ली। किन्तु देवयानी उसे कहीं दिखाई न पड़ी। उससे विदा लेने के लिये वह उसे ढूँढने लगा। उसने देखा कि आश्रम से थोड़ी दूर एकान्त कुंज में देवयानी अकेली ही खड़ी है। कच को कुछ आश्चर्य हुआ वहाँ पहुँचकर उसने देवयानी से पूछा, "तुम यहाँ एकान्त में क्यों खड़ी हो? मैं तो तुम्हें आश्रम में ढूँढ़ रहा था। गुरुदेव ने कृपापूर्वक मुझे घर लौट जाने की अनुमति दे दी है। मेरी शिक्षा पूर्ण हो गयी है। अब मैं अपने घर लौट रहा हूँ। मैंने सभी आश्रमवासियों से विदा ले ली है तथा अब तुमसे विदा लेने आया हूँ। मुझे विदा दो और मेरे योग्य कोई सेवा हो तो कहो।"

देवयानी ने कहा, "ब्राह्मणकुमार ! इस एकान्त कुंज में मैं तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रही थी। मैं यह पहले ही जानती थी कि पिताजी ने तुम्हें घर लौट जाने की अनुमति दे दी है। किन्तु मैं तुमसे कुछ निवेदन करना चाहती हूँ। इसीलिये यहाँ एकान्त में तुम्हारी बाट जोह रही थी। मैं जानती थी कि तुम मुझसे भेंट किये बिना नहीं जाओगे।"

कच ने कहा, "देवयानी ! तुम मेरी गुरुपुत्री हो, तुमसे विदा लिये बिना भला मैं कैसे घर जा सकता था? तुम्हारी प्रसन्नता में श्री गुरुदेव की भी तो प्रसन्नता है। कहो, क्या कहना चाहती हो।"

देवयानी ने कहा, "कच ! तुम्हारी सेवा और सद्-व्यवहार से मैं मुग्ध हूँ। मैं भी अब आजीवन तुम्हारी सेवा करना चाहती हूँ। तुम मुझे अपनी अर्धांगिनी के रूप में स्वीकार कर लो।"

देवयानी का प्रस्ताव सुनकर कच अवाक् रह गया। उसे स्वप्न में भी देवयानी से इस प्रकार के व्यवहार की आशा नहीं थी। वह उसकी गुरुपुत्री थी। गुरुपुत्री सहोदरी तुल्य होती है। कच ने सदैव ही उसे उसी दृष्टि से देखा था। अपनी छोटी बहन समझकर ही उसने देवयानी की सेवा की थी। उसका लाड़ प्यार किया था, उसका मनोरंजन किया था, उसके प्रति मधुर स्नेहपूर्ण व्यवहार रखा था। कच का मन निर्मल और पवित्र था। देवयानी को सहोदरी के अतिरिक्त अन्य किसी भी दृष्टि से देखना उसके लिये अशक्य था। उसने कहा, देवयानी ! तुम क्या कह रही हो? तुम तो मेरी गुरुपुत्री हो। गुरुपुत्री पूज्या होती है। धर्मानुसार तुम मेरी

सहोदरी भगिनी हो। तुम्हारे मुँह से इस प्रकार का अनुचित प्रस्ताव शोभा नहीं देता। तुम्हें मुझे सहोदर भ्राता की दृष्टि से ही देखना चाहिये।''

देवयानी ने सरोष कहा, ''कच ! मुझे तुम्हारे आदर्श और उपदेश नहीं चाहिये। मैं तुमसे प्रेम करती हूँ। बोलो, तुम मुझे स्वीकार करते हो या नहीं? यदि नहीं तो मैं तुम्हें शाप दूँगी कि पिताजी द्वारा प्राप्त संजीवनी विद्या तुम्हारे द्वारा प्रयोग किये जाने पर निष्फल हो जायेगी।''

कच ने शान्त भाव से कहा, ''देवयानी ! मैंने हृदय से तुम्हें सहोदरी माना है। मेरी विद्या के निष्फल होने का शाप क्या, यदि तुम मेरा शिरच्छेदन भी करवा दो, तो भी मैं तुम्हें अन्य दृष्टि से नहीं देख सकता। मेरे हृदय की पवित्रता ही मेरी वास्तविक शिक्षा है, मेरे विद्याभ्यास की उपलब्धि है। उसे मुझसे कोई नहीं छीन सकता है।''

कच ने अत्यन्त कठोर परिश्रमपूर्वक प्राप्त अपनी जीवन साधना की उपलब्धि संजीवनी विद्या को भी अपने आदर्श और अन्तकरण: की पवित्रता के लिये त्याग दिया।

हिन्दू मनीषियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने मानव जीवन को केवल भौतिक दृष्टिकोण से ही नहीं देखा, किन्तु उसके मानसिक तथा आध्यात्मिक पक्ष पर भी विचार कर शोध किया और जीवन के वास्तविक सत्य स्वरूप की उपलब्धि की। इस उपलब्धि के आधार पर उन्होंने जीवन को पूर्णता प्रदान करनेवाली जीवन योजना की रचना की। शरीर से ऊपर उठते ही हमारी प्रमुख समस्या है हमारा मन। 'मन' के समुचित प्रशिक्षण और शोधन द्वारा ही जीवन में पूर्णता की प्राप्ति सम्भव है। इसके प्रशिक्षण में यौनवृत्ति एक जटिल समस्या है। इस समस्या का समुचित निराकरण कर लेने पर जीवन संग्राम में आधी सफलता मिल जाती है। यौन वृत्ति का सहसा विनाश या दमन नहीं किया जा सकता। किन्तु उदात्तीकरण द्वारा उसका शोध कर यथासमय मन को निर्मल बनाया जा सकता है।

यौनवृत्ति के उदात्तीकरण एवं शोध के लिये परस्पर विपरीत लिंगी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा एवं पूज्य भावना अथवा पवित्र निर्हेतुक स्नेह की भावना बड़ी ही सहायक सिद्ध होती है। इसके लिये हमें अपने मन के सम्मुख उस व्यक्ति का श्रद्धापूत, पूज्य बुद्धियुक्त अथवा पवित्र निर्हेतुक स्नेहपूर्ण चित्र रखना होता है। इस मानसिक चित्र के अनुसार उस व्यक्ति के प्रति अपने बाह्य व्यवहारों का नियंत्रण, संयोजन एवं परिमार्जन करना पड़ता है। तथापि, व्यक्ति के प्रति हमारी भावना, हमारा दृष्टिकोण ही प्रमुख बात है। बाह्य व्यवहार द्वितीय स्थान रखता है। कच के मन में देवयानी के प्रति सहोदरी का शुद्ध भाव था। गुरुपुत्री होने के कारण उसके प्रति पूज्य बुद्धि भी थी। यही कारण है कि देवयानी के सम्पर्क से जहाँ एक ओर कच की चित्तशुद्धि हुई, उसका अन्त:करण पवित्र हुआ, वहाँ दूसरी ओर भावना शुद्धि न होने के कारण दृष्टिकोण में भेद होने के कारण, देवयानी के मन में उसी व्यवहार का विपरीत परिणाम हुआ और वह वासना-जनित तथाकथित प्रेम की ओर प्रवृत्त हो आदर्शच्युत हो गयी।

अत: चरित्र-गठन के पथ पर चलने वाले प्रत्येक पथिक का यह कर्त्तव्य है कि जब कभी जहाँ कहीं उसका सम्बन्ध किसी व्यक्ति से हो, तो तुरन्त ही उसे अपने मन की भावनाओं की ओर दृष्टि डालकर आत्म निरीक्षण कर लेना चाहिये। तदनुसार अपनी भावनाओं का परिमार्जन कर, दृष्टिकोण को सदैव पवित्र ही बनाये रखने का प्रयास करना चाहिये। यह साधना साधक को आदर्श की ओर सतत अग्रसर कराती रहती है।

❖ (क्रमशः) ❖

निष्काम कर्म का उद्देश्य

पहले ईश्वरलाभ करो, फिर धन कमाना; इसके विपरीत पहले धनलाभ करने की कोशिश मत करो। यदि तुम भगवान की प्राप्ति कर लेने के बाद संसार में प्रवेश करो तो तुम्हारे मन की शान्ति कभी नष्ट नहीं होगी।

संसार में मनुष्य दो तरह की प्रवृत्तियाँ लेकर जन्मता है – विद्या और अविद्या। विद्या मुक्तिपथ पर ले जानेवाली प्रवृत्ति है और अविद्या संसार-बन्धन में डालनेवाली प्रवृत्ति। मनुष्य के जन्म के समय ये दोनों प्रवृत्तियाँ मानो खाली तराजू के पल्लों की तरह समतोल स्थिति में रहती हैं। परन्तु शीघ्र ही मानो मनरूपी तराजू के एक पल्ले में संसार के भोग-सुखों का आकर्षण तथा दूसरे में भगवान का आकर्षण स्थापित हो जाता है। यदि मन में संसार का आकर्षण अधिक हो तो अविद्या का पल्ला भारी होकर झुक जाता है और मनुष्य संसार में डूब जाता है; परन्तु यदि मन में भगवान के प्रति अधिक आकर्षण हो तो विद्या का पल्ला भारी हो जाता है और मनुष्य भगवान की ओर खिंचता चला जाता है। – *श्रीरामकृष्ण*

सन्त दुर्गाचरण नाग

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस श्रृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

सन्ध्या का समय था। दुर्गाचरण का कलकत्ते के अपने निवास-स्थान में अपने पड़ोसी तथा मित्र सुरेशचन्द्र दत्त के साथ धर्म के विषय में जोरों से तर्क चल रहा था। कोई भी अपने मत के पक्ष में जीतने में सफल होता नहीं दिखायी दे रहा था। ऐसा पहली बार नहीं था, जब उनके बीच आपसी मतभेद हुआ हो। ऐसे वाद-विवाद उनके बीच प्राय: ही होते रहते थे। यद्यपि उनके धार्मिक विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर था, तो भी आश्चर्य की बात यह थी कि दोनों पक्के मित्र थे और उनमें एक-दूसरे के प्रति गहरा लगाव था।

श्री दीनदयाल नाग और त्रिपुरासुन्दरी देवी की इकलौती सन्तान दुर्गाचरण (१८४६-१८९९) का बचपन ढाका जिले के देवभोग नामक एक छोटे-से गाँव में बीता था। वे जब आठ वर्ष के थे, तभी उनकी माँ की मृत्यु हो गयी और इसके बाद उनकी बुआ ने उनका लालन-पालन किया था। निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण उन्हें अपनी स्कूली शिक्षा प्राप्त करने में कड़ा परिश्रम करना पड़ा था। उनका छोटी उम्र में ही विवाह हो गया था और पत्नी की मृत्यु के बाद अपने पिता की हठधर्मी के कारण उन्हें दुबारा विवाह करना पड़ा। उन्होंने कलकत्ते में डेढ़ वर्ष तक एलोपैथिक चिकित्सा-विज्ञान की पढ़ाई की, परन्तु उसके आगे वे पढ़ नहीं सके। तदनन्तर उन्होंने होम्योपैथी पढ़ी और शीघ्र ही एक अच्छे चिकित्सक के रूप में विख्यात हो गये। उनके नैतिकता के सिद्धान्त यदि इतने कड़े न होते, तो वे बड़ी आसानी से धनवान बन जाते। परन्तु उन्हें दूसरों की सेवा में ही अपने जीवन का महान लक्ष्य दीख पड़ता था। अपने इस परोपकारी कार्यों मात्र से सन्तुष्टि का अनुभव न करके, दुर्गाचरण ने अपने कुलगुरु श्री कैलासचन्द्र भट्टाचार्य से मंत्रदीक्षा ले ली और पूरी निष्ठा के साथ साधना में लग गये। चिकित्सा-शास्त्र पढ़ते समय उन्होंने नैतिक तथा धार्मिक निर्देशों की एक पुस्तिका – 'युवकों के लिए उपदेश' को छपवाकर उसका मुफ्त वितरण किया था। भक्तिपूर्ण भजन[१] लिखना उनका प्रिय मनोरंजन था।

श्री माधवचन्द्र दत्त और श्रीमती त्रैलोक्य मोहिनी के द्वितीय पुत्र सुरेश की स्कूली शिक्षा 'चर्च मिशन सोसायटी' में हुई थी। उन्होंने मेडिकल में प्रवेश लिया था, पर वे अधिक दिनों तक अपना अध्ययन जारी न रख सके। उनके बड़े भाई योगेश को ईसाई धर्म अपनाने के कारण शीघ्र ही परिवार से अलग हो जाना पड़ा था। इस बीच सुरेश ब्राह्म-आन्दोलन के प्रति आकर्षित हुए और ब्राह्मधर्म में उनकी गहरी निष्ठा हो गयी। यद्यपि दुर्गाचरण भी सुरेश के साथ कई बार ब्राह्मसमाज में जा चुके थे और केशवचन्द्र सेन के कार्यों के प्रशंसक थे, तो भी वे हृदय से पूरी तौर से एक आस्तिक हिन्दू थे।

दुर्गाचरण उस समय अकेले कुमारटोली[२] के एक छोटे से मकान में रहते थे। उनके वृद्ध पिता देवभोग में थे, इसलिए उनकी सेवा के लिए दुर्गाचरण ने अपनी पत्नी श्रीमती शरद् कामिनी को, जिससे पाँच वर्ष पूर्व उनका द्वितीय विवाह हुआ था, देवभोग भिजवा दिया था।[३] एक दिन जब दोनों मित्र किसी धार्मिक विषय पर चर्चा कर रहे थे, तो दुर्गाचरण ने दु:ख प्रकट करते हुए कहा, "दिन व्यर्थ बीते जा रहे हैं। जब तक सत्य का साक्षात्कार न हो जाय, तब तक मानव-जीवन निरर्थक है।" उत्तर में सुरेश[४] ने कहा कि उन्होंने साधारण ब्राह्मसमाज में एक महान् सन्त के सम्बन्ध में सुना है, जो दक्षिणेश्वर में मन्दिर में रहते हैं। किसी कारणवश सुरेश दो महीने तक यह बात दुर्गाचरण को

---

१. शरत्चन्द्र चक्रवर्ती ने माँ दुर्गा और माँ-काली पर दुर्गाचरण के रचे पाँच सुन्दर भजन प्रकाशित कराये थे। देखिये, प्रतिवासी, वर्ष २, संख्या ९, पृष्ठ १४५-७

२. उन्होंने सन् १८८० में हाथखोला मुहल्ले में सुरेशचन्द्र के पड़ोस में एक दुमंजिला मकान किराये पर लिया था। अपने पिता तथा पत्नी के देवभोग चले जाने पर वे पुन: कुमारटोली के अपने पहले के सस्ते मकान में चले गये थे।

३. गुरुपद भौमिक लिखित 'श्री श्री महाविराट् जुगल लीला' (बँगला में दुर्गाचरण नाग की जीवनी) की भूमिका, पृ. ४ तथा श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर से १९७१ में प्रकाशित 'साधु नागमहाशय', पृ. ४१

४. सुरेशचन्द्र दत्त (१८५०-१९१२) श्रीरामकृष्णदेव के भक्तों में प्रथम थे, जिन्होंने उनके सम्बन्ध में पुस्तक छपवायी थी। 'श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव की उक्तियाँ' सर्वप्रथम २३ दिसम्बर १८८४ को छपी थी। बाद का एक संस्करण जिसमें श्रीरामकृष्णदेव की संक्षिप्त जीवनी और ९५० उपदेश प्रकाशित हुए थे, बहुत लोकप्रिय हुआ। वे आयु में दुर्गाचरण से छोटे थे और उन्हें 'मामा' कहा करते थे।

बताना भूल गये थे। अब उन्होंने जैसा दक्षिणेश्वर के परमहंस के सम्बन्ध में सुना था, दुर्गाचरण को कह सुनाया। सुनकर दुर्गाचरण में उत्सुकता जागी। वे उसी दिन उन सन्त के दर्शन के लिए आकुल हो उठे। उन्होंने सुरेश से आग्रह किया कि वे भी साथ चलें।

यह अप्रैल १८८२ ई. के आसपास की बात होगी।[५] वे लोग शीघ्रतापूर्वक अपना प्रातःभोजन निपटाकर दक्षिणेश्वर के मन्दिर की ओर रवाना हुए। मन्दिर का ठीक-ठीक पता उन्हें ज्ञात न था। काफी देर चलने के बाद एक राहगीर से पूछने पर पता चला कि दक्षिणेश्वर ग्राम तो पीछे ही छूट गया है। वे लोग पीछे लौटे और मध्याह्न के करीब दो बजे दक्षिणेश्वर-मन्दिर जा पहुँचे। धूप में नौ मील पैदल चलना बड़ी थकावट लानेवाला काम था। परन्तु सन्त के दर्शन की उत्सुकता में उन्हें इसका कोई भान न हुआ। वे इधर-उधर घूमकर पता लगाने लगे, तभी उनकी भेंट श्रीरामकृष्ण के कमरे के सामने ही बैठे प्रताप चन्द्र हाजरा से हुई। परन्तु उन्होंने गलत सूचना दी कि श्रीरामकृष्ण चन्दननगर गये हुए हैं। उन्होंने इन लोगों को किसी अन्य दिन आने की सलाह दी। ये लोग अत्यन्त निराश होकर वापस लौटने को उद्यत हो रहे थे, तभी किसी[६] ने उस कमरे के भीतर से मुस्कुराते हुए उन्हें भीतर आने का इशारा किया। कमरे में प्रविष्ट हो उन लोगों ने देखा कि एक प्रौढ़ सज्जन उत्तर की ओर मुख किये एक छोटे से तख्त पर पैर फैलाये बैठे हैं। शीघ्र ही वे लोग उनके आकर्षण में बँध गये। वे सज्जन मध्यम कद के और दिखने में क्षीणकाय थे। चेहरे पर छोटी-छोटी दाढ़ी थी। ओठों पर हलकी-सी मुस्कान और अन्तर्मुखी दृष्टि के कारण उनके चेहरे का अपना अलग ही आकर्षण था। वे थोड़ी तुतलाहट लिये हुए ग्राम्य बँगला भाषा में बोल रहे थे, परन्तु उनका बोलने का तरीका बड़ा मनमोहक था। आयु छियालीस से थोड़ी ही अधिक रही होगी। आगन्तुकों को लगा कि ये ही रामकृष्ण परमहंस होंगे।

जैसा कि श्रीरामकृष्णदेव का स्वभाव था, उन्होंने पहले ही आगन्तुकों को नमस्कार किया। सुरेशचन्द्र ने अन्य ब्राह्म-समाजियों की तरह हाथ जोड़कर नमस्कार किया। दुर्गाचरण ने दण्डवत् प्रणाम करके उनके चरणों की धूलि लेनी चाही, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने अपने पैर समेट लिये। दुर्गाचरण ग्लानि से भर उठे। वे अत्यन्त दुःखी होकर सोचने लगे, सम्भवतः उनमें इतनी पवित्रता नहीं है कि वे ऐसे सन्त के चरणों का स्पर्श करने के अधिकारी बन सकें।[७]

वे लोग फर्श पर बिछी चटाई पर बैठ गये। आगन्तुकों को परखने में श्रीरामकृष्ण को ज्यादा समय नहीं लगा। दुर्गाचरण अपनी आयु के छत्तीसवें वर्ष में थे और सुरेश उनसे चार वर्ष छोटे थे। काले वर्ण के क्षीणकाय दुर्गाचरण अपने वेश और शरीर के प्रति अन्यमनस्क थे। उनके बेतरतीब दाढ़ीवाले चेहरे की विशेषता थी – दो चमकती आँखें। वे दीनता की प्रतिमूर्ति थे। जब वे चलते, तो सर्वदा नीचे दृष्टि गड़ाये हुए धीरे-धीरे चलते। 'कृपा', 'मैं कुछ नहीं हूँ', 'मैं भला क्या जानूँ?' – ऐसे शब्द प्रायः उनके मुख से उच्चरित होते रहते। सन्त-महात्माओं के सामने वे सदैव हाथ जोड़े खड़े रहते।[८] श्रीरामकृष्ण ने बाद में उनके बारे में कहा था – वह 'धधकती आग' है।

सामान्य परिचय पूछने के बाद श्रीरामकृष्ण उनके साथ आध्यात्मिक चर्चा में निमग्न हो गये। उन्होंने कहा, "संसार में वैसे ही रहो, जैसे 'पाँकाल' मछली कीचड़ में रहती है। बीच-बीच में संसार से अलग जाकर निर्जन-एकान्त में भगवान का ध्यान और चिन्तन-मनन करने से भगवान के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। उसके बाद संसार में अनासक्त होकर रहा जा सकता है। 'पाँकाल' मछली को कीचड़ में ही रहना पड़ता है, परन्तु उसकी देह पर कीचड़ नहीं लगती, वैसे ही मनुष्य अनासक्त भाव से गृहस्थ-जीवन बिता सकता है।" उन्होंने आगे कहा, "संसार में अनासक्त होकर रहो। संसार में रहो, परन्तु संसार के होकर मत रहो। हमेशा ध्यान रहे कि संसार का कीचड़ तुम्हें न लगने पाए।"

श्रीरामकृष्ण के इन शब्दों ने दुर्गाचरण के मन पर अमिट प्रभाव डाला। उन्हें यह देखकर बड़ा विस्मय हुआ कि श्रीरामकृष्ण ने उनके अन्तस्थल के भीतरी तारों को छू लिया है। उनके शब्दों ने अपने लक्ष्य को भेद लिया था। दुर्गाचरण को सांसारिक जीवन में आनन्द नहीं मिल रहा था। इसके

५. गुरुपद भौमिक, वही, पृ. ३४; साधु नागमहाशय, पृ. ४२; विनोदिनी मित्र द्वारा लिखित 'श्रीश्रीदुर्गाचरण नाग' (बँगला) (पृ. ३४) के अनुसार दुर्गाचरण जब प्रथम बार श्रीरामकृष्ण से मिले, तब वे ३५ वर्ष के थे। वस्तुतः तब उनकी उम्र ३५ वर्ष ७ माह तथा कुछ दिन थी।

६. द्रष्टव्य : साधु नागमहाशय, पृष्ठ ४५। अक्षय कुमार सेन लिखित 'श्रीश्रीरामकृष्ण पुँथी', द्वितीय संस्करण, पृ. २९८, के अनुसार श्रीरामकृष्ण उस समय प्रताप चन्द्र हाजरा से वार्तालाप कर रहे थे।

७. सुरेशचन्द्र ने थोड़ा भिन्न विवरण दिया है। वे अपने मित्र दुर्गाचरण के ही शब्दों में बताते हैं, "जिस दिन मैं पहली बार श्रीरामकृष्ण के पास गया, उनसे विदा लेते समय मैं उनके चरणों की धूलि लेना चाहता था। पर जब ठाकुर ने अपने चरण समेट लिये, तो मुझे अपने हृदय की कुटिलता का बोध हुआ।" (सुरेशचन्द्र दत्त, 'श्रीमत् रामकृष्ण परमहंस देवेर संक्षिप्त जीवनी', बँगला, पृ. ५२)। गुरुदास बर्मन लिखित 'श्रीश्रीरामकृष्ण चरित' (बँगला, पृ.२०८) में भी इसी से मिलता-जुलता वर्णन मिलता है। दोनों वर्णनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि श्रीरामकृष्ण से मिलने पर दुर्गाचरण ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और विदा लेते समय उनके चरणों की धूलि लेनी चाही।

८. एक बार श्रीरामकृष्ण ने नाग महाशय को दिखाकर नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) से कहा था, "इसी में ठीक दीनता आयी है, जरा भी बनावटी भाव नहीं है।" द्रष्टव्य : साधु नाग महाशय, पृ. ५०

पहले ही प्राय: उनके मन में गृहस्थ-जीवन को त्याग देने की इच्छा प्रबल हो उठती थी। अब श्रीरामकृष्ण के वचनों ने उस समस्या का सदा-सर्वदा के लिए समाधान कर दिया।[९]

इसी बीच दुर्गाचरण अपनी चिकित्सक की दृष्टि से परमहंसदेव की शारीरिक विशिष्टताओं को सूक्ष्मता से परख रहे थे। वे श्रीरामकृष्ण के चेहरे को ध्यानपूर्वक देख रहे थे कि श्रीरामकृष्णदेव पूछ बैठे, "क्या देख रहे हो?" दुर्गाचरण ने दिया, "आपको देखने आया हूँ, इसलिए आपको देख रहा हूँ।" कुछ प्रश्नोत्तर के बाद श्रीरामकृष्ण ने दुर्गाचरण से पूछा, "क्या तुम इस स्थान (स्वयं को दिखलाकर) का भाव ग्रहण कर सके?" दुर्गाचरण का स्पष्ट उत्तर था, "ऐसा मैंने पहले कभी नहीं देखा। आप सम्भवत: वे ही हैं, जिनके लिए मेरी अन्तरात्मा जन्म से ही भटक रही थी।"[१०]

तदनन्तर श्रीरामकृष्ण ने उन लोगों को पंचवटी में जाकर कुछ देर ध्यान करने को कहा। उन्होंने आदेश का पालन किया। लगभग आधे घण्टे बाद श्रीरामकृष्ण उन दोनों को अपने साथ लेकर मन्दिरों में दर्शन के लिए चले। श्रीरामकृष्ण आगे थे और वे लोग पीछे-पीछे चल रहे थे। अन्य मन्दिरों में दर्शन के पश्चात् अन्त में श्रीरामकृष्ण माँ-काली के मन्दिर में प्रविष्ट हुए। वहाँ उनमें विचित्र परिवर्तन आ गया। वे माँ के सामने छोटे बच्चे जैसा व्यवहार करने लगे। वे जगदम्बा के चारों ओर अनेक बार परिक्रमा करने लगे। फिर झुककर उन्होंने शंकरजी और काली के चरणों का स्पर्श किया। श्रीरामकृष्ण के भावपूर्ण व्यवहार को देख आगन्तुकगण – विशेषकर दुर्गाचरण मुग्ध हो उठे।

उन लोगों ने माँ-काली के अन्नभोग का प्रसाद पाया। अन्त में सन्ध्या से कुछ पहले दुर्गाचरण और उनके मित्र ने श्रीरामकृष्ण से विदा ली। उन्हें बिदाई देते समय श्रीरामकृष्ण ने कहा, "फिर आना। बारम्बार आते रहना, तभी तो परिचय गहरा हो सकेगा।" ऐसा प्रतीत होता है कि वे लोग पैदल ही हाथखोला स्थित अपने निवास-स्थान को लौटे थे।

दुर्गाचरण उस दिन समझ नहीं सके कि श्रीरामकृष्ण एक सन्त हैं, या महापुरुष, या ईश्वर के अवतार। परन्तु इस मिलन ने उनके अन्दर ईश्वर को पाने की इच्छा प्रज्वलित कर दी। उस दिन से उन्होंने अपने भीतर सर्वदा उस लौ को बनाये रखा। वे संसार में रहकर ठाकुर के आदर्शों को जीवन में उतारते हुए, सांसारिकता से अलिप्त रहे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें राजा जनक के समतुल्य बताया था। गिरीशचन्द्र घोष ने उनकी स्वामी विवेकानन्द से तुलना करते हुए कहा था कि स्वामीजी ने अपने 'अहं' को इतना विशाल बना लिया था कि माया उन्हें बाँधने में असमर्थ हो गयी और नाग महाशय ने अपने 'अहं' को इतना छोटा बना लिया था कि वे माया-जाल के छिद्र में से होकर बाहर निकल आये। "वे स्वर्णिम युग के यथार्थ सन्त थे।"

दूसरों की अपेक्षा वे श्रीरामकृष्ण के पास बहुत कम बार गये। तथापि उनकी दैवी शक्ति ने दुर्गाचरण में आध्यात्मिकता की जो लौ प्रज्वलित कर दी थी, बाद में जब वह पूरी तौर से धधकने लगी, तब वह साधु-संन्यासियों को भी उनके सत्संग के लिए आकर्षित करने लगी। उनके बारे में बड़े ही सुन्दर शब्दों में कहा गया है – "वे 'Imitation of Christ' (ईसानुसरण) के इन वचनों के जीवन्त उदाहरण थे, 'Dying to self and living eternally to Me.' (अपने लिए मर जाना और ईश्वर के लिए चिर काल तक जीवित रहना)।"[११]

९. श्रीरामकृष्ण के वचनों को पूर्णत: आत्मसात् करके दुर्गाचरण ने गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी परम पूर्णत्व प्राप्त किया था। स्वामी विवेकानन्द ने उनके बारे में कहा था, "सब नियमों के दो-एक अपवाद भी होते हैं। गृहस्थ धर्म का ठीक-ठीक पालन करते हुए भी दो-एक लोगों को मुक्त होते देखा गया है; जैसा कि हमारे नाग महाशय हैं।" (विवेकानन्द साहित्य, सं. १९७३, षष्ठ खण्ड, पृ. ६३-६४)

१०. शरत्चन्द्र चक्रवर्ती : 'नाग महाशय', उद्बोधन, (बँगला पत्रिका), वर्ष ८, अंक ९, पृ. २७०

११. प्रबुद्ध भारत (अँगरेजी मासिक), मई १९००, पृष्ठ ६९

❑❑❑

पाँच ऋणों का शोध

मनुष्य के कुछ ऋण होते हैं – देवऋण, ऋषिऋण; फिर मातृऋण, पितृऋण और स्त्रीऋण। माता-पिता का ऋण चुकाए बिना कोई कार्य सफल नहीं हो पाता। स्त्री के प्रति भी ऋण होता है।... परन्तु एक बात है – यदि किसी को प्रेमोन्माद की अवस्था हो जाए तो फिर कौन बाप, कौन माँ और कौन स्त्री! ईश्वर पर इतना प्रेम हो कि उन्मत्त हो जाय! फिर उसके लिए कुछ कर्तव्य नहीं रह जाता। वह सभी ऋणों से मुक्त हो जाता है। यह प्रेमोन्माद की अवस्था आने पर मनुष्य को संसार का विस्मरण हो जाता है, अपनी देह जो इतनी प्यारी होती है, उसकी भी सुध नहीं रह जाती। – ***श्रीरामकृष्ण***

दान की महिमा

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

समस्त धर्मग्रन्थ और नीतिशास्त्र दान की महिमा गाते नहीं थकते। ऊपरी दृष्टि से भी लगता है कि दान एक पुण्य और महान् कर्म है। पर हममें से बहुतों को दान का तत्त्व मालूम नहीं रहता, इसलिए दान की क्रिया से हम अपने आपको लाभान्वित नहीं कर पाते।

सामान्यत: दान का जो रूप प्रचलित है, वह है – भूखे को भोजन देना, नंगे को वस्त्र, किसी धर्मार्थ संस्था को अर्थ या द्रव्य से सहायता देना, कहीं धर्मशाला बनवा देना, कुआँ खुदवा देना, मन्दिर बनवा देना, आदि आदि। ये सब कार्य अच्छे हैं, यदि विवेकपूर्वक किये जायँ। परन्तु यदि दान की क्रिया के पीछे विवेक का अभाव हो, तो दाता और ग्रहीता दोनों-के-दोनों लाभ से वंचित हो जाते हैं।

दान का प्रभाव दो प्रकार से होता है – एक तो ग्रहीता पर और दूसरा, स्वयं दाता पर। दान की क्रिया से ये दोनों ही प्रभावित होते हैं। दान लेकर ग्रहीता में कुण्ठा भी आ सकती है और धन्यता का भाव भी। उसी प्रकार दान देकर दाता दानी का दम्भ भी अपने भीतर अनुभव कर सकता है और कृतकृत्यता का बोध भी। श्रेष्ठ दान वह है, जिसमें दाता कृतकृत्यता का अनुभव करे और ग्रहीता धन्यता का। राम-चरित-मानस में काकभुशुण्डि के माध्यम से गरुड़ को ज्ञान-दान किया गया है। उस प्रसंग में दाता और ग्रहीता – दोनों में परस्पर कृतकृत्यता और धन्यता का अनुभव-बोध है।

इस सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द का विचार बड़ा ही मननीय है। वे कहते हैं – "उच्च स्थान पर खड़े होकर और हाथ में कुछ पैसे लेकर यह न कहो, ऐ भिखारी, आओ यह लो। परन्तु इस बात के लिए उपकार मानो कि तुम्हारे सामने वह गरीब है, जिसे दान देकर तुम अपने आप की सहायता कर सकते हो। सौभाग्य पाने वाले का नहीं, पर वास्तव में देने वाले का है। उसका आभार मानो कि उसने तुम्हें संसार में अपनी उदारता और दया प्रकट करने का अवसर दिया और इस प्रकार तुम शुद्ध और पूर्ण बन सके।"

परन्तु दान देने के पीछे हमारी वृत्ति सामान्यतया ऐसी नहीं होती। हम तो थोड़ा-सा देकर बहुत-सा एहसान लेना चाहते हैं। उससे बेचारा ग्रहीता दब-सा जाता है और उसके जीवन में एक ऐसी कुण्ठा जन्म लेती है, जो दाता के प्रति उसमें कृतज्ञता का भाव भरने के बदले आक्रोश का भाव भर देती है। हम एक गरीब लड़के को पढ़ने में थोड़ी-सी सहायता क्या करते हैं कि जीवन-भर अपने दान का ढिंढोरा पीटते रहते हैं। किसी संस्था को दान देते हैं, तो नाम और सम्मान की आशा रखते हैं। धर्म की दृष्टि से देखें, तो हम दान को पुण्य के रूप में भँजाना चाहते हैं। इससे दान व्यवसाय का रूप ले लेता है, जिसमें लेन-देन का भाव बना रहता है। ऐसे दान से दाता को भले ही नाम-यश मिल जाये तथा ग्रहीता व्यक्ति या संस्था को भौतिक दृष्टि से लाभ हो, पर दाता को दान का वास्तविक लाभ नहीं मिल पाता।

दान का वास्तविक मर्म है – दाता के स्वार्थ-बोध का विस्तार। अभी व्यक्ति केवल अपने ही परिवार को अपना मानता है, पर जब वह दान देता है, तो मानो अपने स्वार्थ को विस्तृत करता है – अब एक बड़े दायरे को अपना मानने की चेष्टा करता है। इस प्रकार दान नि:स्वार्थता का पाठ है। यदि यह भाव रहे कि परोपकार में अपना ही उपकार है, तो दान दाता के जीवन में सही-सही लाभ लाकर उपस्थित करता है।

अमेरिका में राकफेलर अपने मित्र के कहने पर स्वामी विवेकानन्द से मिलने आये। राकफेलर में तब दान की वृत्ति नहीं थी। स्वामीजी ने उपदेश के स्वर में उनसे कहा कि भगवान ने जब तुमको इतनी सम्पत्ति दी है, तब तुम्हें चाहिए कि अपने को उसका ट्रस्टी समझते हुए उसका उपयोग जनता की भलाई के लिए करो। राकफेलर इस प्रकार उपदेश सुनने के आदी नहीं थे। वे रुष्ट होकर चले गये। कुछ ही दिन बाद वे फिर स्वामीजी से मिलने आये और उनकी मेज पर एक चेक रखते हुए बोले – "Here, take it and now you should thank me for this." – "यह लीजिए और अब इसके लिए मुझे धन्यवाद दीजिए।" स्वामीजी ने उस चेक को बिना देखे राकफेलर को लौटाते हुए कहा – "Rather you should thank me for this." – "बल्कि तुम्हीं मुझे धन्यवाद दो!" स्वामीजी का तात्पर्य था कि मैंने तुम्हें दिशाबोध दिया है, इसलिए तुम्हीं मुझे धन्यवाद दोगे। वह एक बड़ी राशि का चेक था, जो अमेरिका की किसी संस्था के नाम काटा गया था। यही राकफेलर का सर्वप्रथम दान था। वह स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा थी, जिसने राकफेलर को सही मायने में दानी बनाया। दान का वास्तविक मर्म भी यही है। ❑❑❑

हिन्दी साहित्य और श्रीरामकृष्ण भावधारा (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य के प्रारम्भ से ही बंगाल के एक गाँव को अपनी प्रशासनिक राजधानी बनायी थी, जो क्रमशः कोलकाता नगरी के रूप में विकसित हुआ। वर्तमान युग में सम्पूर्ण भारत तथा विश्व के विचारों में रूपान्तरण का सूत्रपात करनेवाली श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा भी वहीं से आरम्भ हुई, अतः स्वाभाविक था कि इसके अधिकांश अनुयायी तथा प्रचारक बंगाल में ही जन्मे थे, तथापि परमहंस श्रीरामकृष्ण देव की जीवनी पढ़ते समय हम देखते हैं कि स्वामी तोतापुरी तथा जटाधारी आदि उनके कई आचार्य हिन्दीभाषी क्षेत्रों से आये और उन्हें हिन्दी भाषा के माध्यम से उनकी साधना में सहायता प्रदान की। बाद में उत्तर भारत के अनेक हिन्दीभाषी साधु-संन्यासियों का दक्षिणेश्वर में जमघट लगा रहता था और श्रीरामकृष्ण भी उन लोगों के साथ विविध विषयों पर घण्टों चर्चा कर रहे हैं। श्रीरामकृष्ण ने उन लोगों से अनेक हिन्दी भजन तथा दोहे भी सीखे थे।[१] बाद के दिनों में जब वे गुरुभाव से उपदेश देने लगे, तो भी 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' ग्रन्थ में हम देखते हैं कि किसी उत्तरी साधु के साथ हिन्दी में बातें कर रहे हैं।[२] इसके अतिरिक्त उनके संन्यासी शिष्यों में एक हिन्दीभाषी लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) भी थे।

श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद जब स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में भारत के सम्पूर्ण उत्तरी, पश्चिमी तथा दक्षिणी अंचलों का भ्रमण किया, उन दिनों हिन्दीभाषी क्षेत्रों के अलावा गुजरात, महाराष्ट्र में भी कहीं-कहीं वार्तालाप तथा व्याख्यान के लिये उन्होंने हिन्दी भाषा का सहारा लिया था। तदुपरान्त अमेरिका से लौटने के बाद अल्मोड़ा, बरेली, श्रीनगर, जम्मू, सियालकोट, लाहौर आदि कई स्थानों में उनके हिन्दी में भी भाषण हुए।[३] विचारों के अखिल भारतीय प्रचार-प्रसार की दृष्टि से उन्हें हिन्दी भाषा के महत्त्व का बोध था और इसीलिए वे अपने प्रथम संन्यासी-शिष्य स्वामी सदानन्द के सम्पादन में एक हिन्दी नियतकालिक पत्रिका भी निकालना चाहते थे।[४]

हिन्दी के प्रति स्वामीजी के दृष्टिकोण को प्रदर्शित करने के लिये उनके साहित्य से निम्नलिखित उद्धरण प्रस्तुत किया जा सकता है – "जब स्वामीजी के अल्मोड़े में ठहरने की अवधि समाप्त हो रही थी, उस समय उनके वहाँ के मित्रों ने उनसे प्रार्थना की कि आप कृपया एक भाषण हिन्दी में दें। स्वामीजी ने उनकी प्रार्थना पर विचार कर उन्हें अपनी स्वीकृति दे दी। हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने का उनका वह पहला ही अवसर था। स्वामीजी ने पहले धीरे-धीरे बोलना शुरू किया, परन्तु शीघ्र ही अपने विषय पर आ गये और थोड़ी ही देर में उन्होंने यह अनुभव किया कि जैसे-जैसे वे बोलते जाते थे, उनके मुख से उपयुक्त शब्द तथा वाक्य निकलते जाते थे। वहाँ पर कुछ उपस्थित लोग, जो शायद सोचते थे कि हिन्दी भाषा में व्याख्यान देने में शब्दों की बड़ी कठिनाई पड़ती है, कहने लगे कि इस व्याख्यान में स्वामीजी की पूर्ण विजय रही और सम्भवतः वह अपने ढंग का अद्वितीय था। उनके व्याख्यान में हिन्दी के अधिकृत प्रयोग से यह भी सिद्ध हो गया कि वक्तृत्व-कला की दिशा में इस भाषा में कल्पनातीत सम्भावनाएँ हैं।"[५]

श्रीरामकृष्ण-वाणी का हिन्दी में प्रचार

राजस्थान के महान् पण्डित नारायण शास्त्री, जिन्हें जयपुर के राजा ने अपना सभा-पण्डित बनने का अनुरोध किया था, बंगाल में न्यायशास्त्र पढ़ने आये और श्रीरामकृष्ण के आकर्षण से काफी काल तक दक्षिणेश्वर में ही रह गये। शास्त्रीजी बाद में उन्हीं से संन्यास लेकर वशिष्ठाश्रम में तपस्या करने चले गये थे।[६] १८९४ ई. में जब स्वामी अखण्डानन्द खेतड़ी से मलसीसर नामक नगर में गये, तो उन्हें पता चला कि पं. नारायण शास्त्री वहाँ काफी काल पूर्व ही श्रीरामकृष्ण के भावों का प्रचार कर गये हैं।[७]

हिन्दी की अधिकांश पुरानी पत्र-पत्रिकाएँ अब लुप्त हो चुकी हैं, तथापि काफी शोधों के बाद वर्तमान लेखक को श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के सन्देशों पर आधारित हिन्दी में प्रथम प्रकाशन जो मिल सका है, वह १८९४ ई. का है। उस वर्ष बाँकीपुर (पटना) से प्रकाशित होनेवाली 'बिहार-बन्धु' पत्रिका के (वर्ष २३, अंक ५) मई अंक (पृ. ३१ -३२) में 'परमहंस श्रीरामकृष्ण की उक्ति' शीर्षक के अन्तर्गत 'एक कौपीन के वास्ते' वाली कथा का प्रकाशन हुआ है। तदुपरान्त १८९८ ई. में अल्मोड़ा-निवासी और इलाहाबाद उच्च न्यायालय के वकील पं. ज्वालादत्त जोशी ने 'दृष्टान्त समुच्चय' नाम से श्रीरामकृष्ण की उक्तियों का एक संकलन प्रकाशित किया। इसके समर्पण पत्र में वे सूचित करते हैं कि स्वामी अभेदानन्द, स्वामी निर्मलानन्द तथा स्वामी सदानन्द ने

१. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, सं. २००८, खण्ड २, पृ. ५७८, ५८९
२. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं.१९९९, भाग १, पृ. ४१० (२६.१२.८३)
३. युगनायक विवेकानन्द, भाग ३, पृ. २२, २९, ३९
४. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ३, पृ. ३११
५. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ५, पृ. २४६
६. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, सं. २००८, खण्ड २, पृ. ६०१-०५
७. स्मृतिकथा (बँगला ग्रन्थ), स्वामी अखण्डानन्द, पृ. १०५

१८९५ ई. में अपने अल्मोड़ा-प्रवास के दौरान इस पुस्तिका के संकलन तथा अंग्रेजी से हिन्दी रूपान्तरण में उनकी काफी सहायता की थी। फिर मथुरा से प्रकाशित होनेवाली 'निगमागम-चन्द्रिका' नामक पत्रिका के प्रथम वर्ष में ही जनवरी-फरवरी (१८९९) के अंक में (पृ. १६०-१६६) 'भक्तावधूत श्रीरामकृष्ण परमहंस जी के उपदेश' शीर्षक के साथ ६ पृष्ठों का एक लेख मुद्रित हुआ है। इसके बाद सुप्रसिद्ध हिन्दी उपन्यासकार बाबू देवकीनन्दन खत्री द्वारा संस्थापित तथा पं. माधव प्रसाद मिश्र (१८७१-१९०७) द्वारा सम्पादित वाराणसी के 'सुदर्शन' मासिक ने अपने प्रथम वर्ष के चौथे अंक (अप्रैल, १९००) से ही 'परमहंस के उपदेश' शीर्षक के साथ एक लेखमाला शुरू की, जो क्रमश: छह अंकों तक प्रकाशित होती रही। फिर १९०३ ई. में श्रीरामकृष्ण की जीवनी के साथ इन उक्तियों को पुस्तिका के रूप में भी निकाला गया। १९०४ ई. में श्रीरामकृष्ण के एक साक्षात् शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द जी ने स्वयं ही संकलन करके इलाहाबाद के ब्रह्मवादिन् क्लब से 'श्रीरामकृष्ण परमहंस और उनके उपदेश' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ का अब भी नागपुर मठ से पुनर्मुद्रण होता है।[८]

स्वामीजी के व्याख्यानों के हिन्दी अनुवाद

११ सितम्बर १८९३ में शिकागो में आयोजित धर्म-महासभा में स्वामी विवेकानन्द जी के सुप्रसिद्ध व्याख्यान होने के बाद से ही उनकी ख्याति सम्पूर्ण विश्व में फैल गयी और क्रमश: भारतवासियों को भी उनकी इस अभूतपूर्व सफलता की सूचना मिली। इसके बाद धीरे-धीरे उनके सन्देश का भारत में भी पहले अंग्रेजी और तदुपरान्त प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशन होने लगा। तत्कालीन हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ अल्प ही उपलब्ध हैं, तथापि स्वामीजी के 'शिकागो-व्याख्यान' के प्रथम हिन्दी प्रकाशन की सूचना उन्हीं के एक पत्र में मिलती है। लन्दन से १३ नवम्बर १८९५ को वे लिखते हैं, "य. बाबू ने एक हिन्दी पत्रिका मुझे भेजी है। उसमें अलवर के पं. रा. ने मेरी शिकागो-वक्तृता का अनुवाद किया है।" पुस्तिका के रूप में इसका प्रथम प्रकाशन सितम्बर १८९८ ई. में मध्यप्रदेश के सागर नगर से हुआ। इसके अनुवादक श्री नारायण बालकृष्ण नाखरे ने पुस्तक की भूमिका में सूचित किया है कि उन्हें स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने ही इन व्याख्यानों का हिन्दी में अनुवाद करने की अनुमति प्रदान की है। शिकागो-व्याख्यानों का एक अन्य अनुवाद स्वामीजी के ही गुरुभाई स्वामी शिवानन्द द्वारा वाराणसी के श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम से १९०३ ई. के प्रारम्भ में प्रकाशित कराया गया।[९]

८. द्रष्टव्य – विवेक-ज्योति, वर्ष १९९७, अंक २, पृ. ७७-८६

९. द्रष्टव्य – वही, वर्ष १९९३, अंक ३, पृ. ९९-१०९

श्रीरामकृष्ण भावधारा और हिन्दी साहित्यकार

इस प्रकार हिन्दी में प्रारम्भिक श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द साहित्य का दिग्दर्शन कराने के बाद अब हम हिन्दी के तत्कालीन साहित्यकारों पर इस साहित्य के प्रभाव का अनुशीलन करेंगे। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास को कुल चार काल-खण्डों में विभाजित किया गया है। (१) भारतेन्दु काल १८५७ से १९०० तक, (२) द्विवेदी काल १९००-१९१८ तक (३) छायावाद काल १९१८ से १९३८ तक और (४) छायावादोत्तर काल १९३८ से अब तक।[१०]

(१) पुनर्जागरण या भारतेन्दु का काल – राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द आदि महान् सुधारकों द्वारा भारतीय समाज में जो जागरण आया, उसका प्रभाव उस काल के हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा। उस काल का जो थोड़ा-बहुत साहित्य उपलब्ध है, उसमें श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा का उल्लेख अल्प ही मिलता है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि इस काल के अन्तिम वर्षों के दौरान ही यह भावधारा अस्तित्व में आई। तथापि पूर्वोक्त १८९४ में 'बिहार-बन्धु' में प्रकाशित 'परमहंस श्रीरामकृष्ण की उक्ति' और १८९७ में पं. ज्वालादत्त जोशी द्वारा प्रकाशित 'दृष्टान्त समुच्चय' पुस्तक को इस काल की रचना मान सकते हैं।

(२) सुधार या द्विवेदी का काल – जिनके नाम पर इस काल का नामकरण हुआ है, वे हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार तथा 'सरस्वती' मासिक के सम्पादक **आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी** (१८६४-१९३८) स्वयं प्रारम्भ से ही इस भावधारा से काफी प्रभावित दीख पड़ते हैं। उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' मासिक ध्रुवतारे के समान उस काल के सम्पूर्ण हिन्दी जगत् के लिए दिक्सूचक का कार्य करती थी। १९०३ ई. में उन्होंने इस पत्रिका का सम्पादन सँभाला और तत्काल इसके फरवरी-मार्च के संयुक्तांक में 'महात्मा रामकृष्ण परमहंस' शीर्षक से एक सुदीर्घ प्रबन्ध लिखा, जो उनके 'चरितचर्या' (१९२९ ई.) पुस्तक के २८ पृष्ठों में पुनर्मुद्रित हुआ। इस लेख के प्रारम्भ में उन्होंने कालिदास का एक उद्धरण दिया है – **भवो हि लोकाभ्युदयाय तादृशाम्** – ऐसे ऐसे महात्माओं का जन्म सांसारिक जीवों के अभ्युदय के लिए होता है। और आगे वे लिखते हैं – "ऐसे पुरुषों में ईश्वरांश की मात्रा साधारण जनों की अपेक्षा बहुत अधिक रहती है। उनको ईश्वर का अवतार ही कहना चाहिए।" इसके अलावा उन्होंने सरस्वती के कई अंकों में रामकृष्ण-विवेकानन्द से सम्बन्धित हिन्दी में प्रकाशित होनेवाले अनेक पुस्तकों की समीक्षाएँ भी लिखी हैं।

१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक – डॉ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, द्वितीय सं., पृ. ४३९

काशी के नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में से एक **श्री रामनारायण मिश्र** का स्वामीजी विषयक लेख 'सरस्वती' के सितम्बर १९०२ अंक में छपा था।[११]

इस काल के दूसरे प्रमुख गद्य-लेखक 'सुदर्शन'-सम्पादक **पं. माधव प्रसाद मिश्र** के रामकृष्ण-विषयक लेखन पर हम पहले ही चर्चा कर आये हैं।

तीसरे प्रमुख गद्यकार **अध्यापक पूर्णसिंह** (१८८१-१९३९) ने प्रत्यक्ष रूप से स्वामी विवेकानन्द के लाहौर व्याख्यान सुने थे। उन्होंने स्वामीजी तथा उनसे सम्बन्धित साहित्य का बड़ी गहराई के साथ अध्ययन किया था और इसके फलस्वरूप वे स्वामीजी के गुरु श्रीरामकृष्ण के द्वारा काफी आकृष्ट हुए। हिन्दी में उनके कुछ ही लेख मिलते हैं और वे सभी श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के जीवन तथा विचारों से ओतप्रोत हैं। अपने 'पवित्रता' शीर्षक निबन्ध में वे लिखते हैं, "पवित्रता का चिन्तन करते हुए ये मेरे मन के कमरे की दीवारों पर जो चित्र लटक जाते हैं, उनका वर्णन करना ही लेखक के लिये तो पवित्रता का स्वरूप जतलाना है। लेखक इस कमरे में कई बार घण्टों इन चित्रों के चरणों में बैठा है – इन चित्रों की पूजा की है और इनसे पवित्रता के स्वरूप को, जितना भी हुआ, अनुभव किया है।" उनके मन-मन्दिर के चित्रों में एक मूर्ति श्रीरामकृष्ण की भी है, जिसका वर्णन करते हुए वे आगे लिखते हैं, "कलकत्ते के पास एक निरक्षर नंगा कालीभक्त है। कालीभक्त क्या? ब्रह्मकान्ति का देखनेवाला फकीर है। इसके नेत्र और इसका सिर, मेरे-तेरे नेत्रों और सिरों से भिन्न है। किसी और धातु के बने हुए हैं। मामूली साधु नहीं, जो छू-छू करते फिरते हैं। एक कोई स्त्री आयी। आप चीखकर उठे। माता कहकर उसके चरणों पर सिर रख दिया। मेरी-तेरी निगाहों में वह कंचनी ही थी। पर रामकृष्ण परमहंस की तो जगत्-माता निकली। देखकर मेरी आँखें फूट (खुल) गयीं। और मैंने भी दौड़कर उसके चरणों में शीश रख दिया। तब उठाया, जब आज्ञा हुई। दरिद्रो ! तुम क्या दे रहे हो? मेरे सामने परमहंस कुल विराट् इस माता के चरणों में लाकर रख दिया। नेत्र खोल दिये। अहिल्या की तरह अपना साधारण शरीर छोड़कर यह देवी आकाश में उड़ गयी। कहोगे 'पूर्ण तो मूर्तिपूजक हो गया?' कुछ भी कहो – मेरे मन की कोठरी ऐसी मूर्तियों से भरी है। इस बुतपरस्ती से पवित्रता मिलने के भाग खुलते हैं, पवित्रता को अनुभव कर ब्रह्मकान्ति का दर्शन होता है।"[१२]

अध्यापक पूर्णसिंह की एक अंग्रेजी पुस्तक है – The Spirit of Oriental Poetry (प्राच्य कविता का भाव-प्रवाह), जिसमें उन्होंने अपने जीवन में प्रेरणा का संचार करनेवाले एशियाई कवियों के काव्य का मूल्यांकन किया है। इसमें भारतीय कवियों के साथ ही कुछ फारसी तथा जापानी कवियों की भी समीक्षा की गयी है। इस ग्रन्थ में वे लिखते हैं, "आधुनिक बंगाल में श्रीरामकृष्ण परमहंस की कुछ काव्यात्मक उक्तियों को छोड़कर और कुछ भी जीवनदायी साहित्य नहीं है।" फिर श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के जीवन-काव्य का थोड़ा सविस्तार वर्णन करने के उपरान्त वे लिखते हैं, "ये (विवेकानन्द) ही हैं, उस व्यक्ति (श्रीरामकृष्ण) के शिष्य, जिनके चरणों में हम जीवन को समझने के लिये प्रणत हो जाते हैं। उनका स्पर्श हमें कवियों में परिणत कर देता है। उनकी धूनी की राख में कविता भरी पड़ी है। सभी आध्यात्मिक प्रतिभाओं की भाँति ही रामकृष्ण परमहंस भी मनुष्य-निर्मात् थे। वह आध्यात्मिक ज्योति, जो दक्षिणेश्वर में प्रज्वलित हुई और कुछ काल तक रामकृष्ण परमहंस के प्रेरित प्रचारक स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से चमकी, उसके अतिरिक्त मुझे बंगाल की धरा पर और कुछ भी (उल्लेखनीय) नहीं दिखायी देता।"[१३]

स्वामीजी के 'वन के वेदान्त को जीवन में' 'शिवभाव से मानव-सेवा' के भावों को ही मानो प्रतिध्वनित करते हुए पूर्णसिंह अपने 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक सुप्रसिद्ध लेख में लिखते हैं, "हल चलानेवाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वारा की किरणें चावल के लम्बे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ-सी हैं। ... किसान मुझे अन्न में, फूल में आहूत हुआ-सा दिखाई देता है। कहते हैं ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्म के समान है। खेती उसके ईश्वरीय प्रेम का केन्द्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है। ... दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं।

"मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मन्दिर और गिरजे में क्या रहा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो; आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है – यही धर्म है।... मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है।... सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादरियों, मौलवियों, पण्डितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिन्तर, अन्त में पाप,

११. विवेक-ज्योति के सितम्बर २००२ अंक में पुनर्मुद्रित

१२. सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध, सं. प्रभात शास्त्री, प्र.सं., पृ. ८३, ९२

१३. The Spirit of Oriental Poetry, पृ. ५८-६०

आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है ।... लकड़ी, ईंट, पत्थर को मूर्तिमान करनेवाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान वैसे ही पुरुष हैं जैसे कवि, महात्मा और योगी आदि । उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सबके सब प्रेम-शरीर के अंग हैं ।

''निकम्मे बैठे हुए चिन्तन करते रहना अथवा बिना काम किये शुद्ध विचार का दावा करना मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है । जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पण्डित और साधु-संन्यासी हल कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी नहीं करेंगे, तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनन्त काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी ।

''गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों किया करते हो? गिरजे की घण्टी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मानते हो? पाँच वक्त की नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो । फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया ।

''धन की पूजा करना नास्तिकता है, ईश्वर को भूल जाना है ।... धन की पूजा से ऐश्वर्य, तेज, बल और पराक्रम नहीं प्राप्त होने का । चैतन्य आत्मा की पूजा से ही ये पदार्थ प्राप्त होते हैं । चैतन्य-पूजा से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है ।''

उपरोक्त उद्धरणों से हमें सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि अध्यापक पूर्णसिंह के जीवन तथा साहित्य को इन दो व्यक्तित्वों ने कितनी गहराई से प्रभावित किया था ।[१४]

माधवराव सप्रे 'छत्तीसगढ़ मित्र' पत्रिका के सम्पादक और लोकमान्य तिलक के प्रशंसक साहित्यकार थे । उन्होंने तिलक के 'गीता-रहस्य' का भी हिन्दी में अनुवाद किया था। १९०२ ई. में स्वामी विवेकानन्द जी के देहत्याग के उपरान्त उन्होंने अपनी पत्रिका के जुलाई, अगस्त तथा अक्तूबर के तीन अंकों में क्रमश: स्वामीजी के जीवन पर एक लेखमाला लिखी ।[१५] उन्होंने 'श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा' नाम से 'वचनामृत' के भी कुछ अंशों का अनुवाद किया ।

कथा-सम्राट् **मुंशी प्रेमचन्द** (१८८०-१९३६) ने उर्दू में स्वामीजी की एक छोटी-सी जीवनी लिखी, जो 'जमाना' मासिक में १९०८ ई. के किसी अंक में छपी थी। १९३६ में उन्होंने स्वयं उसका हिन्दी रूपान्तरण किया, जो १९३९ ई. में मरणोपरान्त छपी ।[१६] उनके पुत्र अमृत राय ने मुंशी प्रेमचन्द्र की जीवनी 'कलम का सिपाही' में उनके ऊपर पड़े स्वामीजी के प्रबल प्रभाव की बात स्वीकार की है। उन्होंने साहित्य-सृष्टि करने के इच्छुक एक युवक को अन्य ग्रन्थों के साथ ही स्वामीजी का साहित्य पढ़ने की भी सलाह दी है ।

इस काल के प्रमुख कवि **मैथिलीशरण गुप्त** (१८८६-१९६४) के समग्र साहित्य पर स्वामीजी के विचारों का अप्रत्यक्ष प्रभाव है । उनके 'भारत-भारती' (१९१२) काव्य में स्वामीजी के ही स्वदेश-भक्ति तथा हिन्दू संस्कृति के पुनर्जागरण का भाव निरूपित हुआ-सा लगता है । उसमें एक स्थान पर स्वामीजी का नाम भी आया है । स्वामीजी ने अपने एक वार्तालाप में माइकेल मधुसूदन दत्त द्वारा लिखित महान् बंगला काव्य 'मेघनाथ-वध' की उच्छ्वसित प्रशंसा की है, उसी से प्रभावित होकर बाद में गुप्तजी ने 'मधुप' छद्मनाम से इसका हिन्दी में काव्य-रूपान्तरण किया है, प्रकाशक है साहित्य सदन, झाँसी ।

रामनरेश त्रिपाठी (१८८९-१९६२) का 'पथिक' काव्य पढ़कर ऐसा स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है कि उसके कथानक की रचना स्वामीजी के जीवन, भ्रमण तथा विचारों के आधार पर ही की गयी है ।

रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४०) – हिन्दी के विख्यात समालोचक, निबन्धकार, साहित्य के इतिहासकार, कोषकार, कथाकार तथा कवि । १९०८ ई. में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अनेक खण्डों में प्रकाश्य 'हिन्दी शब्दसागर' का सम्पादक नियुक्त किया । १९१९ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक हुए । १९३७-३८ तक वहाँ हिन्दी विभाग के प्रमुख थे । श्री रामचन्द्र शुक्ल के भतीजे चन्द्रशेखर शुक्ल ने उनकी एक जीवनी लिखी है, जिसमें वे बताते हैं कि १८९३ में जब रामचन्द्र शुक्ल के पिता मिरजापुर जिले में कानूनगो की नौकरी कर रहे थे, तभी ''शुक्लजी के मिरजापुर पहुँचने के समय तक भारत के कोने-कोने में विवेकानन्द की इस धर्म-विजय की चर्चा फैल गयी थी । शुक्ल जी पर भी इसका प्रभाव पड़ा । दर्शन की ओर उनकी रुचि गयी और वह उनके अध्ययन का विषय बना । परिणाम यह हुआ कि स्कूल-फाइनल पास करने के पहले ही उन्होंने सन १८९९ ई. में ही एडिसन की 'एसे ऑन इमैजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से हिन्दी में अनुवाद कर डाला था ।''[१७]

❖ **(क्रमशः)** ❖

१४. द्रष्टव्य – विवेक-ज्योति, वर्ष १९९७, अंक ४, ८३-८७

१५. विवेक-ज्योति के अगस्त २००२ तथा जुलाई २००४ के अंकों में पुनर्मुद्रित); १६. स्वामी विवेकानन्द और उनका अवदान, अद्वैत आश्रम, कोलकाता, सं. २००२, पृ. ९-२५

१७. 'रामचन्द्र शुक्ल : जीवन और कर्तृत्व' सं. २०१९ विक्रमीय, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी, पृ. ८०-८१

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

१. त्याग में ही परम शान्ति है

अनुभूतिं विना मूढ़ वृथा ब्रह्मणि मोदते ।
प्रतिबिम्बित-शाखाग्र-फलास्वादन मोदवत् ।।

परिच्छेद १

जगत तीनों काल में नहीं है – यह कहना सरल है –

आज १ दिसम्बर, १९१५ ई., बुधवार का दिन है। कुछ काल पूर्व ही दिनकर अपनी किरणों को समेटकर अस्ताचल को गये हैं। बेलुड़ मठ में ठाकुर की आरती आरम्भ हुई। **देवो भूत्वा देवं यजेत्** – पुजारी स्वामी प्रेमानन्द स्वयं ही देवस्वरूप, नित्यसिद्ध, ईश्वरकोटि, त्याग-प्रेम तथा आनन्द के मूर्त विग्रह और भगवान श्रीरामकृष्ण के प्रधान अन्तरंग पार्षदों में से एक हैं। उनकी देहकान्ति श्री गौरांग के समान गौरवर्ण है, उनके शरीर पर गैरिक वस्त्र तथा उत्तरीय शोभायमान हो रहा है, दायें हाथ में घण्टा, बाँये में प्रज्वलित पंचप्रदीप और मन अन्तर्मुख है। भक्तगण मन्दिर के सामने की दालान में खड़े इन देवमानव की आरती देखकर अपने नयन-मन सार्थक कर रहे हैं।

आरती समाप्त हुई, अब स्तोत्रपाठ होगा। मठ के ब्रह्मचारी तथा भक्तगण अपने अपने आसन पर बैठ गये। स्वामी प्रेमानन्द भी मन्दिर के सामने के कक्ष में उत्तर की ओर मुख करके अपने आसन पर विराजे। अब स्वामी विवेकानन्द द्वारा रचित – **खण्डन भवबन्धन जगबन्दन बन्दि तोमाय** – स्तव का गायन होने लगा। फिर – **ॐ ह्रीं ऋतं त्वमचलो** आदि स्तोत्र हो जाने के बाद – **ॐ स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे। अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः। ॐ नमो भगवते रामकृष्णाय नमो नमः** – की आवृत्ति के साथ सबने नतजानु होकर प्रणाम किया।

भाद्र, आश्विन तथा कार्तिक के कुछ महीनों के दौरान मठ में मलेरिया का बड़ा प्रकोप रहता है और उस समय बेलूड़ मठ में साधुओं की संख्या काफी कम हो जाती है। फिर ठण्ड का मौसम आरम्भ हो जाने पर विविध स्थानों से अनेक साधु आ जाते हैं। स्वामी गिरिजानन्द, श्यामानन्द, अच्युतानन्द, ब्रह्मचैतन्य आदि मठ के कई साधु कुछ महीनों तक उत्तरकाशी, लक्ष्मण झूला, ऋषीकेश आदि स्थानों में साधन-भजन करने के बाद एक एक कर लौट आये हैं।

रात के लगभग ७ या ८ बजे होंगे। मन्दिर में आरती तथा जप-ध्यान के उपरान्त मठ के अनेक साधु आगन्तुकों के कक्ष में एकत्र होते हैं। पूजनीय बाबूराम महाराज किसी रात सबको भजन में उत्साहित करते हैं, किसी रात ग्रन्थ-पाठ कराते हैं और कभी अपनी अमृतवाणी से सबको मंत्रमुग्ध कर लेते हैं।

उत्तराखण्ड से लौटे साधुओं की ओर उन्मुख होकर महाराज कहने लगे, "तुम लोग ऋषीकेशी साधु हो गये। उनका कहना है, 'जगत् तो तीनों काल में नहीं है' – बस वहाँ एक गेरुआ पहनकर घूमना और गृहस्थों को ठगने के लिए गीता तथा वेदान्त के श्लोक कण्ठस्थ करना, इतना करने से ही साधु हो गये? वह सब भाई यहाँ नहीं चलेगा। यह ठाकुर का राज्य है। उन्हीं को आदर्श बनाकर त्याग, वैराग्य, प्रेम, भक्ति, विश्वास आदि में वृद्धि करने का प्रयास करना होगा। इन्हीं सबसे जीवन को गढ़ लेना होगा, तभी तो काम होगा। नहीं तो एक गेरुआ पहनकर हृषीकेशी साधुओं* के समान केवल फटाफट श्लोक झाड़ने से ही क्या साधु बन जाओगे? तोते के समान केवल मुख से श्लोक रटने से काम नहीं चलेगा। जीवन चाहिए! जीवन – ज्वलन्त जीवन! जीवन के द्वारा दिखाना होगा। नहीं तो बस एक गेरुआ धारण कर लेना और श्लोक कण्ठस्थ करते रहना। छी! छी!!

त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः

"आज कई भक्त आये थे। बात-बात में उन लोगों ने कहा, 'हमारे गुरुदेव हमें खूब गीता पढ़ने को कहते हैं।' मैंने कहा – केवल पढ़ने से क्या होगा? गीता बन जाना होगा, जीवन के द्वारा दिखाना होगा। नहीं तो कुछ भी न होगा।' ठाकुर कहा करते थे – गीता का दस बार उच्चारण करने से जो होता है, वही गीता का अर्थ है। अर्थात गीता, गीता गीता – त्यागी, त्यागी, त्यागी। त्यागी हुए बिना कुछ भी नहीं होगा। त्याग ही मूलमंत्र है। और एकमात्र त्याग में ही शान्ति है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं।

"तुम लोग गीता बन जाओ। तात्पर्य यह कि केवल बाहर से ही नहीं, भीतर से भी ठीक-ठीक त्यागी बन जाओ। त्यागी हुए बिना केवल गीता याद कर लेने से क्या होगा?

* हृषीकेश में सच्चे, त्यागी तथा अनुभूतिलब्ध साधु भी हैं। यहाँ पर महाराज का तात्पर्य उनसे नहीं है।

आजकल तो घर-घर में गीता है और बहुत-से लोग पढ़ भी रहे हैं। तथापि किसी को कुछ क्यों नहीं होता? कैसे होगा? जो मन विषयों में – काम-कांचन में आसक्त है, उससे भला कैसे होगा? काम और कांचन – इन दो दिशाओं में लंगर डालकर पतवार चलाते रहने से सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। यदि पार जाना चाहो, सारे दुख दूर करना चाहो, तो आसक्ति की गाँठ को काट डालो।'' इतना कहकर वे अपने मधुर कण्ठ से गाने लगे (भावार्थ) –

माँ तारा रूपी नौका घाट पर लगी हुई है।
रे मन, यदि तू पार जाना चाहे, तो दौड़कर आ जा।
तारा नाम की पाल तानकर,
शीघ्रतापूर्वक नाव को खेता चल।
पार हो जाने से तेरे दुःख दूर हो जायेंगे,
हृदय के सारे बन्धन काट डाल।
रे मन बाजार में आया है, तो बाजार कर ले,
व्यर्थ भटक क्यों रहा है?
दिन ढल गया, संध्या हो चली है,
अब इस संसार में और क्या करना है?
कवि रामप्रसाद कहते हैं कि अब तो मैं
संसार की माया-बेड़ी को काटकर मुक्त हो गया हूँ।

बाबूराम महाराज (क्षण भर ठहर कर) – ''त्याग चाहिए, तपस्या चाहिए और अनासक्ति चाहिए, तभी तो गीता का मर्म समझोगे। त्याग, त्याग, त्याग। देखो न, ठाकुर कितने त्यागी थे! रुपये का स्पर्श तक नहीं कर पाते थे, हाथ टेढ़े हो जाते थे। तुम लोग उन्हीं को आदर्श बनाकर अपना जीवन गढ़ डालो न! जीवन को गढ़ डालना ही तो धर्म है। नहीं तो, चाहे साधु होओ या गृहस्थ, जीवन व्यर्थ ही जायगा। भटक-भटककर आखिर मृत्यु ही हाथ लगेगी। समझे?''

इतना कहने के बाद वे पुनः उसी भाव में विभोर होकर गाने लगे (भावार्थ) –

माँ, तू मुझे और कितना घुमाएगी!
संसार-वृक्ष से बाँधकर
कोल्हू के आँख ढँके बैल के समान
तू मुझे निरन्तर हाँके जा रही है।
मेरे किस दोष के चलते
तूने मुझे छह कोल्हुओं से बाँध रखा है!
जगत् में सर्वत्र मैं यही रीति देखता हूँ कि
ममतापूर्ण 'माँ' 'माँ' कहकर रोने से
माँ अपने लाल को गोद में उठा लेती है,
तो फिर क्या मैं जगत् से अलग हूँ?
'दुर्गा-दुर्गा' जपते हुए कितने ही पापी तर गये।
माँ, एक बार मेरी आँखों का भी आवरण हटा दे,
ताकि मैं तेरे अभय-चरणों का दर्शन कर सकूँ।
माँ, कुपुत्र तो अनेक हुआ करते हैं,
परन्तु कुमाता कहीं भी देखने में नहीं आती।
कवि रामप्रसाद को अब यही आशा है कि
अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में
वह तुम्हारे चरणों में ही अवनत रहे।

परिच्छेद २

विद्वत्ता की अपेक्षा जीवन उत्तम है

कलकत्ते की विवेकानन्द समिति ने पिछले शनिवार (२७ नवम्बर) के दिन बाबूराम महाराज को व्याख्यान देने के लिए आमंत्रित किया था। पहले तो उन्होंने इसे अस्वीकार कर दिया था। परन्तु समिति के सदस्य तथा ठाकुर के भक्त कालीपद बाबू के बारम्बार मठ में आकर महाराज से अनुरोध करने पर वे सभा में गये थे। कालीपद बाबू सुविख्यात गंगाधर बन्द्योपाध्याय के पुत्र तथा स्वनामधन्य शम्भुचन्द्र न्यायरत्न के पौत्र हैं। उस दिन बाबूराम महाराज ने कलकत्ते जाकर भाषण दिया था। आज वे उसी विषय में बोल रहे हैं।

बाबूराम महाराज – ''देखो न, उस शनिवार को मैं तो जाना ही नहीं चाहता था – बहुत अनुरोध करने पर गया। एक पण्डितजी ने अच्छा व्याख्यान दिया। उनकी भाषा सुन्दर थी, अच्छे विद्वान् थे, पर उससे क्या? मैं बड़े ध्यान से देख रहा था – उनकी बातें श्रोताओं के दिल में नहीं घुसीं, लोग प्रभावित नहीं हुए। परन्तु (अपने सीने पर हाथ रखकर) मैं स्वयं तो विद्वान् नहीं हूँ। ठाकुर ने मुझसे जो कुछ बुलवाया, सभी लोग कितने आग्रह तथा मनोयोग के साथ सुन रहे थे! मैंने भी कहा – भाषण से कुछ नहीं होता। जीवन के द्वारा दिखाना होगा, तभी उसका स्थायी फल होगा। समझे न!

पवित्रता ही धर्म है

''पवित्र बनना होगा। पवित्रता ही धर्म है। मन तथा वाणी को एक करना होगा। ठाकुर को देखा था – पवित्रता की घनीभूत मूर्ति थे। एक सज्जन रिश्वत लेकर ऊपर का काम किया करते थे। ठाकुर की समाधि अवस्था में एक बार उनके पाँव छू लेने पर वे 'आ...ह' कहकर चिल्ला उठे थे।

''समाधि की अवस्था में ठाकुर कहीं गिर न पड़ें, इसलिए उन्हें सँभाले रहना पड़ता था। हम लोगों को भी भय लगता कि कहीं हमारे छूने पर भी वे चिल्ला न पड़ें। हम गुरुभाइयों में क्या ही अलौकिक प्रेम था! लोग कहते कि ऐसा तो कहीं देखने में नहीं आता, गुरुभाइयों के बीच तो प्रायः आपस में लट्ठबाजी ही हुआ करती है। यहाँ तो नया ही कुछ दिख रहा है। तुम लोग भी अपने भीतर वैसा ही अलौकिक प्रेम लाओ। हमारे चले जाने के बाद तुम लोग नगर-नगर में व्याख्यान दो, अस्पताल खोलो या आश्रम बनाओ; परन्तु यदि तुम गुरुभाइयों के भीतर पवित्रता, हार्दिक प्रीति तथा सद्भाव न रहे, तो इन सबसे कुछ भी नहीं होगा।

"तुम लोग आपस में खूब स्नेह-प्रीति रखना। अपने को कम मत समझना। माँ के शिष्य क्या ठाकुर के शिष्यों से कम हैं! मैं सही बात कह रहा हूँ, कोई अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूँ। ठाकुर के भाव, महाभाव तथा उनकी समाधियाँ बाहर प्रकट हो जाती थीं, परन्तु माँ शक्तिरूपिणी हैं, अत: यह सब छिपाकर सामान्य लोगों की भाँति भोजन आदि पका रही हैं। (मतिलाल* की ओर उन्मुख होकर) क्यों, तू तो जयरामबाटी में उन्हें खाना आदि पकाते देखकर आ रहा है!

रासलीला सुनने का अधिकारी कौन?

"काशी में रासलीला पर प्रवचन सुना। पहले दिन तो सब अच्छा लगा। वक्ता अच्छे थे, सुगायक थे, थोड़ी विद्वत्ता भी थी। दूसरे और तीसरे दिन भी उसी विषय पर प्रवचन सुना। श्रोतागण सब काम-कांचन में आसक्त गृहस्थ थे। वे लोग यदि मिल जायँ, तो दो-चार बातें सुनाऊँ। देखो, अपवित्र गृहस्थ लोग रासलीला का मर्म भला क्या समझेंगे? जो पूर्णरूप से पवित्र हैं, वे ही यह सब सुनने के अधिकारी हैं; अपवित्र व्यक्ति सुनें, तो उनका अमंगल होता है। काम-कांचन में आसक्त गृहस्थों के समक्ष ऐसा प्रवचन! राम, राम!!

"तुम लोगों के कृष्ण जीवन भर हाथ में बाँसुरी लिए क्या दिन-रात 'ता-धिन' 'ता-धिन' करके नाचते रहते थे? क्या यही तुम लोगों का आदर्श है?

"देशवासियों के पेट में अन्न नहीं है, तन ढँकने को कपड़े नहीं हैं, ब्रह्मचर्य नहीं है, शरीर रोगों से जीर्ण-शीर्ण है – तिस पर भी साल-के-साल बच्चे पैदा करने में कमी नहीं आती – उन्हें रासलीला की कथा न सुनाकर, निष्काम कर्म के प्रचारक पार्थसारथी श्रीकृष्ण की महती वाणी सुनानी होगी – **क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ** – कायरता दूर करो, मनुष्य बनो, बसुन्धरा का भोग करो। और इसके साथ ही महावीर हनुमान का वही आदर्श जीवन बताना होगा।

"भक्त होने से क्या केवल वंशीधारी कृष्ण का चिन्तन तथा उनका नृत्य देखना होगा? यह क्या है! ठाकुर ये सब एकांगी भाव पसन्द नहीं करते थे। वे डकैतवाली भक्ति की बात कहते थे। वह कहानी जानता है न! ठाकुर बताते थे –

एक परम वैष्णव झड़ी हुई पत्तियाँ और वृक्षों से गिरे हुए फल खाकर ही जीवन-धारण और भगवन्नाम का स्मरण-मनन करते हुए ही कालयापन किया करते थे। परन्तु उनकी कमर से तेज धारवाली एक तलवार लटकती रहती थी। उन परम अहिंसक वैष्णव की कमर से धारदार तलवार लटकती देखकर एक दिन देवर्षि नारद ने उनसे पूछा, 'महाशय, आप तो परम वैष्णव दिखते हैं। जीव-हिंसा के भय से पेड़ों से पत्तियाँ तक नहीं तोड़ते, झड़ी पत्तियाँ तथा फल खाकर ही जीवन-रक्षा करते हैं; फिर आप की कमर से हिंसा का प्रतीक यह तलवार क्यों लटक रही है।' वैष्णव ने उत्तर दिया, 'अर्जुन, प्रह्लाद और द्रौपदी – इन तीनों को काटने के लिए।' नारद ने विस्मित होकर पूछा, 'ये तीनों तो परम भक्त हैं, इन्हें भला क्यों काटेंगे?'

वैष्णव ने उत्तर दिया, "अर्जुन की ऐसी धृष्टता कि उसने जगत्पति को अपना सारथी बनाया! प्रह्लाद ने अपने तुच्छ जीवन की रक्षा के लिए मक्खन के समान कोमल प्रभु को अत्यन्त कठोर स्फटिक के खम्भे से बाहर निकाला और द्रौपदी ने अपनी लाज बचाने के लिए शरणागत होकर श्रीकृष्ण के भोजन में विघ्न डाला। इसीलिए मैं इन तीनों को काट डालना चाहता हूँ!"

चरित्र में ही जीवन की सार्थकता है

बाबूराम महाराज – "तुम सभी सिद्ध हो जाओ, अहंकार-अभिमान सब जला डालो। यहाँ (ठाकुर के मठ में) आकर सबको सिद्ध – नरम होना होगा; परन्तु असत्य या मिथ्या को काटने के लिए सर्वदा सत्यरूपी तलवार रखना होगा। इसमें खूब हठ होना चाहिये।

"चरित्र चाहिए। चरित्र-गठन के बिना, इहलोक या परलोक – कहीं भी, किसी भी काल में, किसी भी विषय में उन्नति नहीं कर सकोगे। देखो न, सभी आतंकवादी चरित्रहीन हैं, इसीलिए पकड़े जा रहे हैं, सरकारी गवाह भी हो रहे हैं। ये लोग अपनी शक्ति को बेकार नष्ट न करके यदि भगवान को देते, तो जगत् का कितना कल्याण होता! और यूरोप के इस महायुद्ध* में पाश्चात्य राष्ट्र कितना खून बहा रहे हैं, कितनी शक्ति क्षय कर रहे हैं! तिस पर भी कहते हैं – हम कितने सभ्य हैं! सब महामाया का खेल है, भाई! तुम लोग उनके उस उद्यम मात्र का ही अनुकरण करके उसे भगवान की ओर लगा दो।

"श्रीरामकृष्ण को कितने लोगों ने समझा है? हम लोगों ने भी क्या उन्हें पूरा पूरा समझ लिया है। स्वामीजी (विवेकानन्द) जब अमेरिका से लौट आये, तब आलमबाजार मठ में हम लोगों में से किसी एक ने उनसे पूछा था, 'तुमने ठाकुर को कितना समझा है?' स्वामीजी बोले, 'भाई, कुछ भी तो नहीं समझ सका! केवल उनका outline (बाह्य अभिव्यक्ति) ही तो देख पा रहा हूँ'।" ❖ (क्रमशः) ❖

* बाद में स्वामी महादेवानन्द

* उन दिनों प्रथम विश्वयुद्ध जारी था।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१७६. मेवाड़ की आन, बान और शान

बाजीराव पेशवा ने मेवाड़ के राणा जगतसिंह से मैत्री स्थापित करने के इरादे से उन्हें पत्र भेजकर उनसे व्यक्तिगत तौर पर मिलने की इच्छा व्यक्त की। उत्तर में जगतसिंह ने उन्हें मेवाड़ आने का निमंत्रण दिया।

नियत दिन जब बाजीराव राणा जगतसिंह के दरबार में गये, तो राणा ने, "नि:संकोच आगे आओ, मित्र !" कहते हुए अपने समीप विराजमान होने का इशारा किया। पेशवा ने सकुचाते हुये कहा, "राणा मैं स्वयं को आपके आसन पर बैठने के काबिल नहीं समझता।" जब राणा ने पूछा, "इसमें काबिलियत का प्रश्न कहां उठता है मित्र?" तो पेशवा ने उत्तर दिया, "महारानी पद्मिनी की आन, महाराणा सांगा की बान, महाराणा प्रताप की शान, पन्नादाई का आत्म-बलिदान और सन्त मीराबाई के मार्मिक गान यहाँ की पावन भूमि को अपने कण-कण में सँजोये हुए हैं। जिस गद्दी पर बैठकर प्रणवीर महाराणा प्रताप ने स्वराज्य और सुराज्य का मंत्रानुष्ठान किया था, उस पर आसीन होना मुझे उचित प्रतीत नहीं होता।" राणा बोले, "आपको ऐसा नहीं सोचना चाहिये", और आगे कहा, "आपको अपने निकट पाकर मेवाड़ाधिपति गर्व का अनुभव करता है।" बाजीराव ने नम्रता से कहा, "नहीं राणा, मेरे पूर्वजों ने इस सिंहासन का मुक्त कण्ठ से जयगान किया है, इसलिये इस पर बैठना मैं मर्यादा-भंग तथा अनधिकार चेष्टा समझता हूँ। इसलिये कृपया उस पर बैठने का मुझे आग्रह न करें।" तब राणा ने अपने निकट ही बैठने के लिये उनके लिये दूसरे आसन की व्यवस्था की।

राणा को बोध हो गया कि राजपूतों की आन-बान-शान निश्चय ही दूसरों के लिये एक आदर्श है और उसकी मान-मर्यादा-भंग न होने देने को वे बराबर चेष्टारत रहे।

१७७. ईश जगत् में रम रहा, ज्यों पय में नवनीत

एक बार एक व्यक्ति ने सन्त इब्राहिम से पूछा, "क्या आप बता सकेंगे कि खुदा कहाँ निवास करता है?" इब्राहिम ने दूध मँगवाकर उस व्यक्ति से प्रश्न किया, "क्या आप इस दूध में मक्खन या घी दिखा सकेंगे?" उस व्यक्ति ने उत्तर दिया, "मक्खन या घी दूध में ही है। इनका अस्तित्व है, पर अदृश्य रूप में होने से वे दिखाई नहीं देते।" "ठीक कहते हैं, आप !" सन्त ने कहा, "खुदा भी दूध के अन्दर के मक्खन के समान अस्तित्व में होकर भी अदृश्य या अनलखा होने से दिखाई नहीं देता। खुदा का दुनिया के जर्रे-जर्रे में, यहाँ तक कि आपके दिल में भी वास है, मगर वह आपको दिखाई नहीं देता। उसके लिये कठिन साधना, लगन, हृदय की निर्मलता, तड़प और छटपटाहट होनी चाहिये। सांसारिक वासना के कारण वह अलख रहता है। जिस प्रकार मक्खन तथा घी दूध में ओतप्रोत रहता है और उसे पाने के लिये पूरे दूध को मथना पड़ता है, उसी प्रकार खुदा को देखने के लिये अपने कलुषित अन्त:करण का मन्थन करके उसे निर्मल बनाना होगा। तभी उसके दर्शन होंगे।"

१७८. जैसी जो करनी करे, तैसा ही फल पाय

एक सर्प ने एक बच्चे को काटा, जिससे उसकी मृत्यु हो गई। अर्जुन नामक एक व्याध ने यह घटना देखी। वह सर्प को फन्दे में पकड़कर तथा बच्चे का शव लेकर उसकी माँ के पास ले आया। वह बोला, "माताजी, इस साँप ने आपके बेटे को डँसकर मारा है। बताइये, जीवहत्या के दोषी इस सर्प को कौन-सी सजा दूँ – इसके टुकड़े-टुकड़े करूँ या जलाकर नष्ट कर दूँ?" बेटे की लाश देखते ही उसकी माँ शोकाकुल हो गई। मगर वह शीघ्र ही शान्त होकर व्याध से बोली, "साँप को मारने से मेरा पुत्र तो जीवित नहीं होगा, अत: इसकी हत्या करना उचित नहीं।" तभी सर्प बोल उठा, "रे व्याध, डँसना तो मेरा धर्म है और मैंने जो कुछ किया है, काल के प्रेरणा से किया है। अत: दोषी मैं नहीं, काल है। सुनकर व्याध बोला, "रे दुष्ट, तू मनुष्य की वाणी बोलकर मुझसे दया की अपेक्षा मत कर। एक मासूम बालक की हत्या करने के कारण मैं तुझे जीवित नहीं छोड़ूँगा।" इतने में स्वयं काल (यमराज) वहाँ प्रकट हो गये और उन्होंने व्याध से कहा, "इस बालक की मृत्यु के लिये न तो सर्प और न मैं दोषी हूँ। मनुष्य पूर्व कर्मों के आधार पर जन्म लेता है और कर्मों के आधार पर ही उसका अन्त होता है। तुम यदि इसे मारोगे, तो इसकी हत्या के लिये तुम दोषी होगे और इसका फल तुम्हें अगले जन्म में भोगना होगा।" यह सुनकर व्याध ने तत्काल सर्प को अपने फन्दे से मुक्त कर दिया।

पूर्व जन्म के कर्मों के फलित होने की स्थिति को सामान्य-तया 'प्रारब्ध' कहा जाता है। मनुष्य को हर अच्छे-बुरे कर्म का फल वर्तमान अथवा अगले जन्मों में भोगना पड़ता है। इसलिये मनुष्य को अपने कर्मों के लिये दूसरों को दोष देना उचित नहीं। यदि मनुष्य सचेत होकर सत्कर्मों में प्रवृत्त हो, तो उसके कर्मों के अच्छे फल मिलेंगे। ❑ ❑ ❑

माँ का दर्शन और मंत्र मिला

स्वामी नित्यस्वरूपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

१९१६ ई. में मैट्रिक पास करने के बाद मेरी कॉलेज की शिक्षा शुरू हुई। १९१५ ई. में स्वामी प्रेमानन्दजी ने मुझे कॉलेज की पढ़ाई पूरी कर लेने का आदेश दिया था। मैं ढाका जाकर वहाँ के जगन्नाथ कॉलेज में भर्ती हुआ। जिस मकान में स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी प्रेमानन्द तथा उनकी टोली ठहरी थी, उन दिनों उसी अग्रेस विला में मेरे कई मित्र रहते थे। उनके अनुरोध पर मैं भी उनके साथ आ मिला और उन्हीं लोगों के साथ रहने लगा। हम लोगों की टोली के जो अगुवा थे, वे ही बाद में शिकागो के विवेकानन्द सोसाइटी के संस्थापक स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द हुए।

उन दिनों रामकृष्ण मठ, ढाका के अध्यक्ष स्वामी महादेवानन्द थे। ये माताजी के शिष्य थे। उनका जन्मस्थान जयराम-बाटी के अत्यन्त समीप कोआलपाड़ा गाँव में था। कोआलपाड़ा में भी एक आश्रम है, जहाँ माँ जयरामबाटी से कलकत्ता जाते और लौटते समय ठहरा करती थीं। इस आश्रम में माँ ने अपने हाथों से श्रीरामकृष्ण के तथा अपने स्वयं के भी एक चित्र की स्थापना की थी। स्वामी महादेवानन्द बचपन से ही माँ के अत्यन्त घनिष्ठ सान्निध्य में रहे और परम भक्ति के साथ मन-प्राण से उनकी सेवा की थी।

एक दिन स्वामी महादेवानन्द ने मुझसे कहा कि माँ कलकत्ते आयी हैं और वे उनका दर्शन करने जायेंगे। यह १९१६ ई. के दिसम्बर की बात है। यह बात सुनते ही मैंने उनसे कहा, "मैं भी माँ का दर्शन करने आपके साथ जाना चाहता हूँ।" वे राजी हो गये।

उसी के अनुसार १९१६ ई. के २३ दिसम्बर को हम लोग ढाका से रवाना हुए और अगले दिन खूब सबेरे कलकत्ते पहुँचे। हम लोगों ने सीधे बागबाजार पहुँचकर गंगा-स्नान किया और माँ के घर लौटकर उनके दर्शन की प्रतीक्षा करने लगे। उस समय माँ दुमंजले के अपने कमरे में पूजा कर रही थीं। हम लोग निचली मंजिल में प्रतीक्षा कर रहे थे। मैंने देखा कि स्वामी महादेवानन्द उसमें अपने ही घर के समान अबाध रूप से आ-जा रहे हैं। वे ऊपर देखने गये कि माँ की पूजा समाप्त हुई है या नहीं। इसी बीच माँ की पूजा समाप्त हो गयी थी, लेकिन वे पूजा के ही आसन पर बैठी हुई थीं। स्वामी महादेवानन्द वहाँ जाकर उन्हें प्रणाम करने के बाद नीचे आये और मुझसे बोले, "माँ की पूजा समाप्त हो गयी है। मैं प्रणाम कर आया, तुम भी प्रणाम कर आओ।" मैंने ऊपर जाकर देखा कि माँ पूजा के आसन पर बैठी हैं। मैंने उन्हें प्रणाम किया।

जिस क्षण मैंने उन्हें प्रणाम किया, उसी क्षण उन्होंने मेरी ओर देखा और पूछा, "तुम दीक्षा लोगे क्या?" मैं अभिभूत हो गया। उन्होंने फिर कहा, "आसन पर बैठो। (हाथ में गंगाजल देकर) आचमन करो।" इसके बाद वे बोलीं, "तुम्हारा किस देवी या देवता के प्रति सर्वाधिक लगाव है?" मैंने नाम बताया। तब उन्होंने मुझे इष्टमंत्र दिया। मेरी दीक्षा हो गयी। दीक्षा के समय जैसा नियम था, उनके श्रीचरणों में (गुरुदक्षिणा के रूप में) अर्पित करने के लिए मैं कुछ भी नहीं ले गया था, क्योंकि मैंने तो सोचा ही नहीं था कि मेरी इस प्रकार सहसा दीक्षा हो जायेगी और इसके लिए मैं किसी प्रकार की तैयारी करके नहीं गया था। माँ के कमरे में उनकी चारपाई के नीचे जो फल रखे थे, माँ ने मुझे आदेश दिया कि मैं उन्हीं में से कुछ ले आऊँ। मेरे द्वारा उनमें से कुछ फल ले आने पर उन्होंने उन्हीं को अर्पित करने को कहा। मैंने वैसा ही किया। इसके बाद उन्हें प्रणाम करके मैं बाहर आ गया। नीचे उतरकर मैंने स्वामी महादेवानन्द को सब कुछ बताया। सुनकर वे बहुत खुश हुए और बोले, "देखा न, हम लोगों ने उन्हीं की इच्छा से, उनके पास आने से पहले ही गंगास्नान कर लिया था और हम लोगों के आने की बात किसी ने उन्हें बताया नहीं था, तो भी अपनी पूजा समाप्त हो जाने पर, अर्न्तयामिनी माँ तुम्हें दीक्षा देने के लिये ही पूजा के आसन पर बैठी थीं। तुम महा भाग्यवान हो।"

मेरे मित्र जयचन्द्र चक्रवर्ती, जो स्वामी ब्रह्मानन्द के शिष्य थे, उस समय वहाँ उपस्थित थे। वे स्वामी विवेकानन्द के शिष्य तथा स्वामी-शिष्य-संवाद ग्रन्थ के लेखक शरत्चन्द्र चक्रवर्ती के ज्येष्ठ पुत्र थे। वह एक अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ है और अब भी मेरी परम प्रेरणा को स्रोत है। उन दिनों सभी

तरुण तथा युवक लोग वह पुस्तक पढ़ते थे। जयचन्द्र के मामा और हमारा घर एक ही गाँव में था और खूब पास-पास था। इसी कारण हम लोगों में परस्पर अत्यन्त घनिष्ठता थी। उन्होंने हमारे गाँव के स्कूल में भी कुछ काल तक पढ़ाई की थी। दीक्षा के बाद मैं मित्र को साथ लेकर निकल पड़ा और माँ जिस प्रकार की लाल किनारी की साड़ी पहनती थीं, उसी प्रकार की एक साड़ी खरीद लाया। कुछ अंगूर भी खरीदे। तत्पश्चात् वह सब माँ को निवेदित किया। दोपहर को माँ के घर में प्रसाद पाया। उसके साथ ही माँ का भी प्रसाद पाया।

स्वामी महादेवानन्द मुझसे बोले, "तुम्हारी दीक्षा के बाद माँ ने मुझसे कहा, 'यह लड़का तो अपने माँ-भाइयों को रुलायेगा।' " अर्थात् उन्होंने इंगित किया था कि मेरे लिये संन्यास जीवन ही निर्धारित है। १९१५ ई. में जब मैंने राढ़ीखाल में पहली बार स्वामी प्रेमानन्दजी का दर्शन किया, उस समय उन्होंने भविष्यवाणी की थी, "तू साधू होगा, परन्तु अभी नहीं, बी.ए. पास करने के बाद।" उस समय मैं स्कूल की दसवीं कक्षा का छात्र था। माँ की उस उक्ति में भी उसी की परिपूर्ति तथा समर्थन मिला।

माँ की कुछ बातें

स्वामी पुरुषात्मानन्द

(स्वामी पुरुषात्मानन्द माँ के मंत्रशिष्य थे। उनका जन्म १८८५ ई. में श्रीहट्ट जिले का हबीगंज में हुआ था, जो अब बंगलादेश में है। १९२० ई. में वे रामकृष्ण संघ में सम्मिलित हुए। उन्हें स्वामी विज्ञानानन्दजी से संन्यास-दीक्षा मिली। वे हबीगंज के श्रीरामकृष्ण आश्रम के संस्थापकों में एक तथा सिलचर रामकृष्ण मिशन के प्रथम अध्यक्ष थे। २१ दिसम्बर १९६२ को उन्होंने कलकत्ते के कारनानी अस्पताल में देहत्याग किया। 'उद्बोधन' में उनके महाप्रयाण के बारे में लिखा था, "उनके देहत्याग की घटना प्रेरणादायी है। यद्यपि वे अत्यन्त दुर्बल हो गये थे, तथापि देहत्याग के कुछ मिनट पूर्व [उनका देह-त्याग सुबह ४ बजकर ३५ मिनट पर हुआ था] वे सहसा उठकर बिस्तर पर बैठ गये और श्रीरामकृष्ण के पवित्र नाम का उच्चारण करने लगे। थोड़ी देर बाद वे बोले, 'माँ तुम आयी हो, जरा ठहरो, मैं आता हूँ।' इतना कहकर वे पास के रोगियों से बोले, 'भाई, क्या तुम लोग जगे हुए हो? मेरा समय हो गया है, मैं जाता हूँ।' इसके बाद वे लेट गये और फिर नहीं उठे।" वर्ष ६५, अंक १, पृ. ६३)

उस समय मैं छात्र था। छात्रावस्था में माँ की बात सुनी थी। सुनने के बाद से ही माँ को देखने की तीव्र आकांक्षा जगी। बेलूड़ मठ आया। उस समय माँ जयरामबाटी में थीं। जयरामबाटी पहुँचकर माँ के पुराने घर के सामने खड़ा रहा। बाद में घर में प्रविष्ट होकर देखा – बरामदे में एक वृद्ध महिला बैठी हैं। एक व्यक्ति ने बताया – ये ही माँ हैं। माँ को देखकर मन खराब हो गया। सोचा – जिन माँ को देखने के लिए हबीगंज से भागकर आया, उनका व्यक्तित्व तो अत्यन्त साधारण है। शरीर का रंग भी मलिन है और देखने में भी ऐसा कुछ विशेष नहीं है। मन में यही सब बातें उठ रही थीं। सहसा सुना, माँ मेरी ओर देखती हुई कहने लगीं, "मेरा रंग इतना मलिन नहीं था, बेटा! ठाकुर के देहत्याग के कुछ दिन बाद 'पंचतपा' करने से मेरे शरीर का रंग जलकर काला हो गया है।" इतना कहकर माँ चुप हो गयीं। मैं तो सुनकर बिल्कुल हक्का-बक्का रह गया! मन में बहुत डर भी लगा। मन-ही-मन माँ से बारम्बार क्षमा प्रार्थना करने लगा। कहने लगा, "माँ, मैं तुम्हारे बारे में ऐसी सब बातें सोच रहा था। मुझे क्षमा करो।"

उसी बार माँ ने मुझे दीक्षा दी। दीक्षा के बाद प्रसाद खाने बैठा। और भी अनेक लोग बैठे थे। सभी लोगों के पत्तल में भात, दाल और सब्जी परोसी गयी। मैंने सोचा, "इतने थोड़े-से भात से तो मेरे पेट का एक कोना भी नहीं भरेगा। फिर आज तो मुझे भूख भी बड़े जोर की लगी है।" यह बात सोचते ही मैंने देखा कि माँ वहाँ आकर खड़ी हैं और सबका खाना देख रही हैं। मेरे सामने आकर वे परोसने वाले से बोलीं, "इस लड़के को भात-सब्जी इतना कम क्यों दिया है? ये लोग ज्यादा भात खाते हैं, इसे और भी भात-सब्जी दो। इतने में लड़के का पेट नहीं भरेगा।" मैं एक बार फिर अवाक् रह गया। समझ गया – माँ अन्तर्यामिनी हैं। मेरे मन के कोने में जो भी उठता है, या मन में जो कुछ सोचता हूँ, ये सब कुछ स्पष्ट देख लेती हैं। केवल ये दो घटनाएँ ही नहीं, उस बार जयरामबाटी में और भी कई ऐसी घटनाएँ हुई थीं, जिनसे मुझे माँ के अन्तर्यामिनी होने का प्रमाण मिला था।*

❖ **(क्रमशः)** ❖

* उद्बोधन, वर्ष १०३, अंक ४, बैशाख १४०८, पृ. २५४
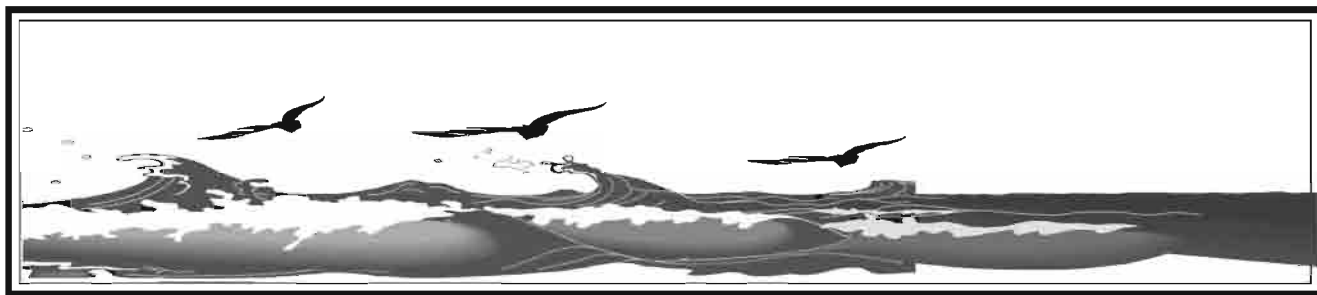
चित्तौड़ का तीसरा साका

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कलकत्ता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'रामेश्वर टांटिया समग्र' ग्रन्थ के कुछ अंश। – सं.)

सन् १९६४ में भारत के विभिन्न प्रदेशों के हम पचास संसद-सदस्य चितौड़ गए थे। वैसे तो सारा गढ़ ही अनूठा है, किन्तु सुरजपोल और किले का भीतरी आंगन विशेष रूप से पवित्र है, क्योंकि यहाँ तीन बार 'जौहर' हुआ है। इसे देखकर मन में एक सिहरन-सी उठती है।

केरल से हिमाचल प्रदेश तक के संसद-सदस्यों के हमारे दल में महिला सदस्याएँ भी थीं। राजस्थान सरकार ने सुचारु व्यवस्था कर दी थी। प्रदेश के पर्यटन-विभाग के मंत्री के अतिरिक्त, स्थानीय अधिकारी एवं सुदक्ष गाइड भी साथ थे।

चितौड़गढ़ अपने आप में गौरवमय इतिहास की परतों को समेटे हुए हैं। सूरजपोल उसका मुख्य द्वार है। पिछले ८०० वर्षों में इसने बहुत-सी लड़ाइयाँ और तीन प्रसिद्ध 'साके' देखे हैं। 'परिचय-पत्रिका' हमें पहले से दे दी गई थी, तो भी गाइडों ने जो कुछ भी बताया, वह काफी लोमहर्षक रहा।

मेवाड़ के इतिहास में प्रतापी महाराणा प्रताप का शौर्य स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। आश्चर्य की बात है कि उदयसिंह जैसे विलासी तथा भीरु राजा को प्रताप-जैसा सिंहपुरुष पुत्र के रूप में प्राप्त हुआ ! शायद राणा सांगा की आत्मा अपने पुत्र की भीरुता सहन न कर सकी और सिसौदियों की आन को अक्षुण्ण रखने के लिये उन्हें प्रताप बन फिर आना पड़ा।

१५४० ई. में उदयसिंह चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठे। दिल्लीश्वर हुमायूँ उन दिनों दर-दर की ठोकरें खा रहे थे। इसीलिये राजस्थान तब तक मुगल आक्रमण से बचा था। उदयसिंह निश्चिन्त थे और भरपूर भोग-विलास में डूबे हुए थे।

पानीपत की दूसरी लड़ाई में अकबर ने हेमू को पराजित किया। महत्त्वाकांक्षी अकबर राज्य-विस्तार में योजनबद्ध रूप से लग गया। युद्ध और कूटनीति की दुधारी तलवार से वह सफलता की सीढ़ियों को पार करता गया। आमेर के राजा भारमल की कन्या से विवाह करने से उसे राजपूतों के एक बड़े वर्ग की सहानुभूति मिली। बाप्पा रावल के वंशज महाराणा उदयसिंह ने समय के संकेत को पहचाने की चेष्टा नहीं की। सन् १५६७ तक अकबर ने सम्पूर्ण राजस्थान पर विजय प्राप्त कर ली, केवल चित्तौड़ बचा रहा। अकबर मेवाड़ी तलवार के पानी को समझता था। उसने तैयारियाँ शुरू कर दी और स्वयं एक बड़ी फौज लेकर चित्तौड़ पर चढ़ आया। उसकी सेना में तुर्क-पठानों के अलावा बहुत बड़ी संख्या में पेट के लिये लड़नेवाले राजपूत भी थे।

मेवाड़ी सामन्तों ने महाराणा को सलाह दी कि शाही फौज का मुकाबला उनके नेतृत्व में किया जाय। चित्तौड़ की यही परम्परा रही है, किन्तु सब व्यर्थ गया। उदयसिंह चुपचाप अपने रनिवास के साथ दूर अरावली की पहाड़ियों में जा छिपे। मेवाड़ के लिये यह पहला अवसर था, जब उसका नेता स्वयं ही भाग खड़ा हुआ।

स्वदेश-भक्त राजपूत वीरों ने निर्णय लिया कि वे भागेंगे नहीं, बल्कि मुगलों का डटकर मुकाबला करेंगे। आस-पास के सामन्त और सरदार अपनी-अपनी फौजी टुकड़ियों को लेकर चित्तौड़गढ़ में आ गये। अकबर की अपार सेना के सामने मुट्ठी भर राजपूत ! इसे मृत्यु का सक्षात् वरण ही कहा जायगा। इतिहास में ऐसे उदाहरण यूरोप के पूर्व-मध्य-कालीन क्रूसेड (धर्मयुद्ध) के ही मिलते हैं, जिनमें अपने देश, धर्म एवं तीर्थ की रक्षा करने के लिये ईसाइयों ने जान-बूझकर आतताइयों से वीरतापूर्वक जूझते हुए मौत को गले लगाया था।

चित्तौड़ के इस युद्ध में जूझने वाले सभी राजपूतों की वीरता अद्‌भुत थी। शायद ही कोई वीर बचा। इसे चित्तौड़ का तीसरा 'साका' कहा जाता है। बिदनौर के सरदार जयमल और बेलवाड़ा के किशोर सरदार पत्ता ने आक्रमणकारियों के छक्के छुड़ा दिये। बहुत दिनों तक घेरा डालने पर भी अकबर जब गढ़ में प्रवेश नहीं कर पाया, तो उसने अपनी सेना के मुख्य भाग को गढ़ के प्रमुख द्वार – सूरजपोल पर भीषण आक्रमण करने का आदेश दिया। यहाँ चन्द्रावत सरदार साहीदास अपने साथियों की एक छोटी-सी टुकड़ी के साथ रक्षा का दायित्व सँभाले हुए था। मुगल सेना ने जबर्दस्त हमला बोल दिया। साहीदास के गिने-चुने साथी कब तक टिकते। एक-एक कर सभी वीरगति को प्राप्त हुए। फिर भी

मुगल दुर्ग में प्रवेश नहीं कर सके।

इसी तरह भदारिया का रावत दूदा बेदला, कोटरी और बिर्जाली के सरदार तथा सादड़ी के झाला सब – अपने-अपने साथियों के साथ जूझते हुये बलिदान हो गये। ऐसे संकट के समय चूड़ावत रानी ने अपने किशोर पुत्र पत्ता और पुत्रवधू के साथ वीरवेश में दुर्ग-द्वार की रक्षा का भार सम्भाला। दोनों वीरांगनाएँ कवच पहने हाथों में नंगी तलवार लिये डट गईं। मौत सामने मुस्करा रही थी, किन्तु रानी एकमात्र पुत्र को रण-संचालन के लिये प्रोत्साहित करती रही। वह उसके साथ ही अपना जीवन भी रण में उत्सर्ग करना चाहती थी, न कि जौहर की ज्वाला में। रानी के युद्ध-कौशल को देखकर शत्रु भी चकित रह गये। वह रणचण्डी की तरह जिधर भी निकल जाती, नरमुण्ड कट-कटकर गिरने लगते। शत्रुदल लहरों की तरह बढ़ता जाता था। पत्ता अपनी माता और पत्नी के साथ लहरों से खेलता हुआ इन्हीं में समा गया।

रात का समय था और घोर अँधेरा। जयमल दुर्ग की प्राचीरों में टूटे-ढहे स्थानों की मरम्मत रोशनी में करा रहा था। किले पर से उसने आग, पत्थर और गोले बरसाकर मुगल सेना पर कहर ढा दिया था। अकबर की तोपों ने जगह -जगह दीवार में गड्ढे कर दिये थे। कई बार तो उसने कोशिश की कि सुरंग लगाकर फाटक और दीवार उड़ा दिये जायँ, किन्तु वह असफल रहा। मुगल सेना मेवाड़ी वीरों की बहादुरी देखकर हैरान थी। वे यही ताज्जुब कर रहे थे कि मुकाबले में ये लोग इन्सान हैं या जिन्नात।

उस रात युवक अकबर भी चिन्तित मन से किले की दीवारों का मुआइना करके यह जानना चाहता था कि अगले दिन किस भाग पर चोट की जाय। मशाल की रोशनी में जयमल दिखाई पड़ा। अकबर अचूक निशानेबाज था। उसने अपनी 'संग्राम' बंदूक उठायी और जयमल पर निशाना दाग दिया। गोली जाँघ में जा धँसी। वह बुरी तरह घायल हो गया। मशाले बुझा दी गयीं। अँधेरे में कहाँ, क्या हुआ – कुछ पता नहीं चला।

सबेरा हुआ। घमासान युद्ध छिड़ा। मुगलों में जोश था कि जयमल बादशाह की गोली का शिकार हो गया है। किन्तु जब उन्होंने देखा कि वह एक राजपूत के कन्धे पर चढ़ा दोनों हाथों से तलवार चलाता उनकी सेना को काटता हुआ चला जा रहा है, तो दंग रह गए। अकबर के मुँह से निकला – "काश ! मेरे साथ भी कोई ऐसा बहादुर होता।"

सूरजपोल आखिर टूटा। मुगल सेना टिड्डी की तरह फाटक के भीतर पिल पड़ी। बाजी जाती देखकर भी राजपूत हारे नहीं। बचे हुए मेवाड़ी वीर केसरिया बाना पहने शत्रुसेना से जुझते हुए मर मिटे। महिलाएँ बच्चों के साथ जौहर की ज्वाला में कूदकर सती हो गई।

किले के आँगन में अब भी आग जल रही थी। धुँआ और गर्द का गुबार उठ रहा था। अकबर ने देखा जयमल की मुट्ठियों में तलवार कसी है, जाँघ से खून बह रहा है और अधखुली आँखों में चिर शान्ति बसी है। वह देखता रह गया। सोचने लगा कि इस जीत में भी शायद मेरी हार हुई है। मौत की चिराचंध-गंध भरे आँगन में बच्चों और महिलाओं की जली-अधजली लाशें और राख के ढेर! वह चुपचाप एक ओर हट गया।

जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर राजपूतों के इस 'साका' को भूला नहीं। जयमल और पत्ता उसके दिलो-दिमाग में छा चुके थे। आगरे जाकर उसने अपने किले के मुख्य द्वार पर इन दो वीरों की हाथी पर सवार मूर्तियाँ स्थापित कर दी। शाहजहाँ के समय तक ये वहाँ रही। बाद में सन् १६६३ में औरंगजेब ने इन्हें हटवा दिया।

तीन सौ वर्ष बाद भी उस दिन हमने उस किले के आंगन में ईटों के बीच भस्मी चिपकी देखी। हममें से कई लोगों ने उन्हें खुरचकर माथे पर लगाया। महिलाओं ने कुछ अंश रूमाल में बाँधे, शायद घर जाकर बच्चों के मस्तक पर लगायें। शाम हो आई। सूर्य किले की दीवारों के पीछे चला गया था। हम भारी मन से अपने शिविर की ओर चले आये।

❑❑❑

संसार में कैसे रहें ? – *श्रीरामकृष्ण*

कुछ लोगों से खूब सावधान रहना पड़ता है। पहला – बड़े आदमी। वे चाहें तो तुम्हें नुकसान पहुँचा सकते हैं, क्योंकि उनके हाथ में बहुत धन, जन और सामर्थ्य है। इसलिए कभी-कभी वे जो कुछ कहें, उसी में हामी भरते जाना पड़ता है। दूसरा है – साँड़। सींग मारने आए तो मुँह से आवाज करते हुए उसे ठण्डा करना पड़ता है। तीसरा है – कुत्ता। जब भौंकता हुआ काटने दौड़ता है, तो उसे भी ठहरकर मुँह से पुचकारते हुए शान्त करना पड़ता है। चौथा है – शराबी। उसे अगर छेड़ दो तो 'तेरी ऐसी की तैसी' कहते हुए तुम्हारी चौदह पीढ़ियों को गालियाँ देगा। पर उससे यदि प्रेम से कहो, "क्यों चाचा, कैसे हो?" तो एकदम खुश होकर तुम्हारे पास बैठकर खूब बातचीत करने लगेगा।

स्वामी सदानन्द (१)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

१८८८ ई. के उत्तरार्ध की बात है। परिव्राजक संन्यासी वृन्दावन से हृषीकेश की ओर चले जा रहे थे। टिकट उनके पास शायद हाथरस तक का ही था, इसलिये वे ट्रेन से वहीं उतर गये थे। इसके बाद वे किस प्रकार आगे जायेंगे, किससे सहायता लेंगे, आदि सब कुछ अनिश्चित था। परन्तु संन्यासी परम निश्चिन्त थे, उनके चेहरे पर उद्विग्नता का कोई चिह्न तक न था, बल्कि उल्टे उनके बड़े-बड़े नेत्रों से तीव्र वैराग्य तथा दृढ़ ज्ञान की ज्योति निकल रही थी। तथापि यात्रा के श्रम से उनका शरीर बड़ा ही थका हुआ था और इसीलिये वे स्टेशन के प्लेटफार्म के एक बेंच के कोने में बैठकर अपने भाव में तल्लीन थे।

कर्तव्य-परायण स्टेशन-मास्टर की दृष्टि सहसा प्लेटफार्म के एकान्त में बैठे इन संन्यासी पर जा पड़ी। संन्यासी के विशेष तेजयुक्त नेत्र तथा प्रसन्न मुखकान्ति देखकर वे उनकी ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने निकट जाकर उनसे बात करना आरम्भ किया – "क्या महाराज, यहाँ पर क्यों बैठे हैं? जाओगे नहीं?" उत्तर मिला – "हाँ, हाँ, जायेंगे तो जरूर।" साहस पाकर स्टेशन-मास्टर ने और भी निकट जाकर पूछा – "बाबाजी, तम्बाकू पीयोगे?" इस बार भी उदास-निस्पृह उत्तर मिला – "हाँ, पिलाओगे तो पी लेंगे।"

निरभिमान संन्यासी की सहज-सरल बातों और उनका सुन्दर तथा तेजयुक्त शरीर देखकर वे रेल-कर्मचारी सज्जन उनके प्रति बड़े ही आकर्षण का अनुभव करने लगे। उन्होंने मन-ही-मन सोचा – "वाह, ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व के साधु पहले तो कभी दिखे नहीं।" संकोच के साथ उन्होंने फिर पूछा – "अच्छा, आपका क्या बंगाली शरीर है?" संन्यासी ने स्मित हास्य के साथ उत्तर दिया – "हूँ।" अब ये हाथ जोड़कर अनुरोध करने लगे – "महाराज, लगता है कि आप बड़े ही भूखे हैं। कृपया मेरे घर चलिये। मैं अकेला ही निवास करता हूँ।" "ठीक है, चलो" – इस एक उक्ति के साथ ही संन्यासी स्टेशन-मास्टर के घर में जाकर अतिथि हो गये।

अपने-पराये के भेद से रहित इन अद्भुत संन्यासी का आचरण ने स्टेशन-मास्टर के हृदय को और भी गहराई से स्पर्श किया। घर पहुँचकर संन्यासी ने पूछा – "अजी, तुम अतिथि की किस चीज से सेवा करोगे?" इस पर गृहस्वामी ने एक फारसी कविता का एक अंश उद्धृत किया, जिसका अर्थ है – "हे प्रियतम, तुम मेरे घर आये हो। मैं अपना कलेजा निकालकर उसी से तुम्हारे लिये उत्तम व्यंजन बनाऊँगा।" उस दिन वास्तव में कलेजे से तो भोजन नहीं बना, परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि उस दिन इन संन्यासी-अतिथि की सेवा में उन्होंने अपना पूरा हृदय समर्पित कर दिया था। ये परिव्राजक संन्यासी थे आचार्य स्वामी विवेकानन्द और सेवक स्टेशन-मास्टर का नाम था शरत्चन्द्र गुप्त, जो परवर्ती काल में स्वामीजी के अनुगत शिष्य स्वामी सदानन्द और रामकृष्ण संघ में गुप्त महाराज के नाम से सुपरिचित हुए। गुरु तथा शिष्य का प्रथम परिचय इसी प्रकार हुआ था।[१] कहते हैं कि हाथरस के इन स्टेशन-मास्टर को ही स्वामीजी के सर्वप्रथम शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ था। और इसी गौरव ने सदानन्द का नाम अमर कर दिया है।

शरत्चन्द्र गुप्त का जन्म ६ जनवरी, १८६५ ई. को कोलकाता के गड़पार मुहल्ले में हुआ था। उनके पिता यदुनाथ गुप्त १८६८ ई. के किसी समय वाराणसी के पास जौनपुर चले गये और वहीं स्थायी रूप से निवास करने लगे। इसीलिये बंगाली होकर भी उत्तर प्रदेश की आबोहवा में लालित-पालित होने के कारण शरत्चन्द्र बंगाली की अपेक्षा हिन्दी तथा उर्दू अधिक जानते थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता अधरचन्द्र गुप्त भी गृहस्थी के बाद संन्यासी हो गये थे। समाज में वे अच्छे प्रतिष्ठित तथा कमाऊ युवक थे, परन्तु सहसा वैराग्य का उदय हो जाने से सब कुछ पीछे छोड़कर संसार-विरागी होकर चले गये। वे काफी काल तक सिन्ध तथा वहीं के हैदराबाद अंचल में रहे। वे सर्वदा तालियाँ बजाकर मधुर स्वर में ॐकार का गायन करते रहते थे, इसलिये उधर के लोग उन्हें 'तालीदार बाबा' के रूप में

---

१. भगिनी क्रिस्टिन द्वारा लिखित स्मृतिकथा 'Swami Vivekananda As I Saw Him' में स्वामीजी के साथ सदानन्द की इस प्रथम भेंट का थोड़े भिन्न रूप में वर्णन मिलता है।... शरत्चन्द्र ने ट्रेन के डिब्बे में आसीन स्वामीजी के अद्भुत नेत्रों को देखकर उनसे अनुनय-विनय करके उन्हें उतारकर ले आये थे। कुछ दिनों पूर्व एक रात उन्होंने स्वप्न में उन्हीं अद्भुत आँखों को देखा था। (द्र. *Reminiscences of Swami Vivekananda*, Advaita Ashrama, 3rd ed., p. 181)

जानते थे। कुछ दिनों तक वाराणसी की दुर्गावाड़ी में रहकर भी उन्होंने साधन-भजन किया था। उन्हें सिद्ध पुरुष जानकर बहुत-से लोग उनके प्रति भक्ति-श्रद्धा किया करते थे। एक बार कोलकाता में उनकी भगिनी निवेदिता के साथ भेंट हुई थी। निवेदिता ने इन साधु को देखकर कहा था – "भीतर के पुरुष बाहर प्रकट हो गये हैं।" अर्थात् उन्होंने अपना सच्चा स्वरूप अभिव्यक्त कर लिया है। लगता है कि शरत्चन्द्र की वैराग्य-प्रवणता कुछ मात्रा में अपने पूर्वगामी ज्येष्ठ भ्राता से भी संक्रमित हुई थी।

बलिष्ठ शरीर तथा सुदृढ़ चरित्र के अविवाहित शरत्चन्द्र उदार स्वभाव के व्यक्ति थे। अपने निष्कपट, सरल तथा उदार मनोभाव के कारण वे बचपन से ही सभी के प्रिय थे। शरत्चन्द्र का कर्मजीवन केवल कर्मजीवन नहीं, बल्कि उनके समग्र जीवन का एक अविस्मरणीय अध्याय था, उनका रेल-विभाग की नौकरी स्वीकार करना। फिर हाथरस स्टेशन का प्लेटफार्म ही उनके जीवन-नाट्य का सबसे प्रधान दृश्यपट है। वे वहाँ स्टेशन-मास्टर के पद पर नियुक्त थे, इसीलिये वे प्रतिदिन असंख्य यात्रियों को देखते – वे हजारों लोगों के आवागमन के साक्षी बने रहते। परिचित-अपरिचित, अपने-पराये असंख्य लोग नित्य उनके सामने से होकर गुजर जाते, परन्तु कभी कोई इस कर्तव्यनिष्ठ स्टेशन-मास्टर की दृष्टि को ऐसा आकृष्ट नहीं कर सका था, जिससे उसके कर्तव्य-पालन में कोई बाधा आती। स्टेशन मास्टर शरत्चन्द्र का कर्तव्य-मुखर जीवन इसी प्रकार बीता जा रहा था। तभी सहसा हाथरस स्टेशन पर परिव्राजक स्वामीजी का आविर्भाव हुआ। मूर्तिमान पौरुष के प्रतीक इस संन्यासी के दोनों नेत्रों में उस दिन न जाने कैसी विद्युत्-शक्ति खेल रही थी! उसी शक्ति ने कर्तव्य-परायण शरत्चन्द्र के सारे कर्तव्य-बन्धनों को काट डाला था। स्वामी विरजानन्दजी की भाषा में – "शरत्चन्द्र गुप्त उनके मनोहर रूप तथा अद्भुत नेत्रों को देखकर मुग्ध हो गये।"

स्वामीजी शरत्चन्द्र के घर में अतिथि हुए। इन अभूतपूर्व संन्यासी के नेत्रों में सम्पूर्ण विश्व को अपना बना लेनेवाली अलौकिक प्रभा देखकर शरत्चन्द्र स्वयं को रोक न सके। उन्होंने स्वयं ही कुँए से पानी निकालकर परम यत्न तथा श्रद्धा के साथ स्वामीजी को स्नान कराया, अपने हाथ से भोजन बनाकर उन्हें खिलाया, उनके विश्राम हेतु यथायोग्य प्रबन्ध किया और सोचने लगे कि इन संन्यासी अतिथि की सन्तुष्टि के लिये भी और भी क्या किया जा सकता है। स्वामीजी उनकी सेवा, निश्छलता तथा सरलता पर बड़े प्रसन्न हुए। वे संन्यासी को जितना ही देखते, उतना ही उनके प्राण उनके प्रति और भी अनुरक्त होते जाते – संसार में एकमात्र वे ही अपने आदमी प्रतीत हो रहे थे। शरत्चन्द्र के पास सब कुछ था। विद्या, बुद्धि, यौवन, सामर्थ्य, माता-पिता, भाई-बहन, सगे-सम्बन्धी – संसार का सब कुछ उनके पास था, तथापि उनके प्राणों में एक गीत ध्वनित हो रहा था, जिसका भावार्थ है – "पराये लोगों के प्रेम में अचेत होकर तुम क्यों अपने परम आत्मीय को भूल गये हो?" किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर शरत्चन्द्र एक दिन सरल हृदय के साथ स्वामीजी से पूछ बैठे, "मेरा क्या होगा? आप मुझे भी अपने साथ ले चलिये।" परिहास-प्रिय स्वामीजी 'विद्यासुन्दर' नाटक के एक गीत की कुछ कड़ियाँ गुनगुनाते हुए गाने लगे। वे हूबहू अभिनय की मुद्रा में हाथ नचा-नचाकर गाने लगे –

विद्या को यदि चाहो पाना,
निज शशिमुख में राख लगाना।
नहीं अगर कर सकते ऐसा,
जल्दी से पथ देखो अपना।।

शरत्चन्द्र इतने सरल थे कि उन्होंने क्षण भर भी विचार नहीं किया और सहसा वहाँ से चल दिये। वे दौड़ते हुए गये, चूल्हे से राख निकालकर अपने चेहरे पर मल लिया और विचित्र वेश बनाये वापस आ पहुँचे। स्वामीजी हँसते हुए लोटपोट हो गये, बोले, "अरे, तुम अपने चेहरे पर राख क्यों लगा आये?" शरत्चन्द्र ने संकुचित होकर उत्तर दिया, "क्यों बाबा, आपने ही तो मुझे ऐसा करने को कहा था!"

अस्तु, इसी प्रकार हास-परिहास चलने पर भी शरत्चन्द्र ने मन-ही-मन निश्चय कर लिया कि वे इस जीवन का सर्वस्व खोकर भी स्वामीजी का अनुसरण करेंगे। इसके लिये जरूरत पड़ी तो वे अपना काम छोड़ देंगे, संसार छोड़ देंगे। एक दिन स्वामीजी को थोड़ा चिन्तामग्न देखकर उन्होंने निश्छल भाव से पूछा – "स्वामीजी, आप इतना क्या सोच रहे हैं? मैं आपका आदेश पालन करने को सर्वदा ही प्रस्तुत हूँ। मैं आपकी क्या सहायता कर सकता हूँ, आदेश दीजिये।" स्वामीजी ने उस दिन बड़ी ही आवेगपूर्ण भाषा में अपने भावी शिष्य को अपने जीवन का मूल रहस्य व्यक्त करते हुए बता दिया कि कैसे श्रीरामकृष्ण ने उन्हें एक महान् कार्य – अपने सन्देश के प्रचार तथा भारत के पुनरुद्धार – के लिये नियुक्त किया है। जीव-उद्धार रूपी इस महान् उत्तरदायित्व को वे कैसे पूरा कर सकेंगे – इस गुरुभार को वहन करने में कौन उनका हाथ बँटाने को आगे आयेगा – यही सब उनके चिन्ता का कारण है। इसके बाद स्वामीजी बोले – "क्या तुम भिक्षापात्र उठाकर द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगने को प्रस्तुत हो?" सुदृढ़ उत्तर मिला – "आप आदेश तो दीजिये।" स्वामीजी के आदेश पर स्टेशन मास्टर शरत्चन्द्र गुप्त तत्काल रेल्वे के कुलियों के मुहल्ले में जाकर भिक्षा माँग लाये और प्राप्त सामग्री को स्वामीजी के समक्ष रख दिया। शरत्चन्द्र की आज्ञाकारिता तथा निरभिमानता को देखकर स्वामीजी बड़े

प्रसन्न हुए और उन्हें अजस्र आशीर्वाद प्रदान किया।

दूसरी ओर स्वामीजी का मन हिमालय के आकर्षण से आकुल हो रहा था। उनका संकल्प था कि अब वे हाथरस से अपना आसन समेटकर पुन: हरिद्वार तथा ऋषीकेश की यात्रा आरम्भ करेंगे। एक दिन वे सहसा बोले – "मैं यहाँ और अधिक नहीं ठहर सकूँगा। संन्यासी के लिये एक स्थान पर अधिक दिन ठहरना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त यहाँ रहते-रहते मेरा तुम लोगों से लगाव बढ़ता जा रहा है – यह भी उचित नहीं है। भाई, तुम लोग अब मुझे और मत रोकना।" यह बात सुनकर शरच्चन्द्र बड़े विचलित हो उठे। वे समझ गये कि अब इन परिव्राजक संन्यासी को रोका नहीं जा सकेगा, अत: उन्होंने सविनय प्रार्थना की – "स्वामीजी, कृपा करके आप मुझे अपना शिष्य बना लीजिये।" स्वामीजी ने उनकी परीक्षा लेने के निमित्त उत्तर दिया – "क्या तुम सोचते हो कि मेरा शिष्य हो जाने से ही तुम आध्यात्मिक जीवन का सब कुछ पा लोगे? ईश्वर सभी जीवों में विराजमान हैं – इसी को याद रखने से तुम्हारी उन्नति हो जायेगी। तुम्हारे साथ बीच-बीच में मेरी भेंट होती रहेगी।" परन्तु दृढ़प्रतिज्ञ शरच्चन्द्र भुलावे में आनेवाले न थे। उनके मन का सुदृढ़ संकल्प था कि किसी भी कीमत पर स्वामीजी के चरणों का आश्रय ग्रहण करना है। उन्होंने रेल्वे की नौकरी से त्यागपत्र दिया और दो-चार वस्त्रों को गेरुए रंग में रँगकर उनकी एक पोटली बाँधकर वे स्वामीजी का अनुसरण करने को प्रस्तुत हो गये। हार मानकर स्वामीजी को उन्हें शिष्य के रूप में स्वीकार करना ही पड़ा।

परिव्राजक स्वामीजी पुन: ऋषीकेश की ओर अग्रसर हुए। यात्रा शुरू हुई – शरच्चन्द्र भी श्री गुरुदेव के चरणों का अनुसरण करते रहे। सरल आनन्दमय शिष्य की निश्छल निष्ठा देखकर गुरु के भी आनन्द की सीमा न थी। स्वामीजी ने अपने इस नये शिष्य को त्याग के मंत्र में दीक्षित करके 'सदानन्द' नाम दिया। संन्यासी सदानन्द जी-जान लगाकर अपने आचार्य का अनुसरण करते रहे; क्रमश: उन्हें यह भी बोध हुआ कि यह निरालम्ब परिव्राजक जीवन सामान्य व्यक्ति के लिये कितना कठिन है! परन्तु संन्यासी के लिये तो आजीवन इस कठोरता की ही साधना नियत है। अस्तु। शिष्य के साथ यात्रा करते हुए स्वामीजी के मार्ग में बीच-बीच में विभिन्न प्रकार के बाधा-विघ्नों के आकर कष्ट उत्पन्न करने के बावजूद, वे कभी उनके पथ को अवरुद्ध नहीं कर सके। सहारनपुर तक ट्रेन में आने के बाद उन लोगों ने पैदल ही चलना आरम्भ किया।

स्वामीजी के पीछे चलते हुए सदानन्द के जीवन की इस काल की स्मृतियाँ उनके मन में बड़ी दृढ़तापूर्वक अंकित हो गयी थीं। वस्तुत: ये ही उनके समग्र जीवन में कर्म तथा साधना की प्रेरणा बनी रहीं। कम्बल तथा पोटली को अपने कन्धे पर झुलाकर बाँये हाथ से उसे पकड़े हुए पहाड़ की ऊबड़-खाबड़ पगडंडियों पर चढ़ाई-उतराई करना अनभ्यस्त सदानन्द के लिये कितना कष्टकर था, इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। तथापि स्वामीजी सुदृढ़ कदमों के साथ तेजी से अग्रसर हो रहे थे। सदानन्द अपने शरीर का भार और ऊपर से साथ की पोटली का भार सँभाल पाने में कठिनाई का अनुभव करते हुए क्रमश: पिछड़ते जा रहे थे। पाँवों का भारी बूट भी असुविधा का एक कारण हो गया था – ऐसा लग रहा था कि उसका वजन उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा है। कोई अन्य चारा न देख सदानन्द ने अपने जूते उतार दिये और उन्हें भी पोटली में घुसा लिया – सोचा कि नंगे पाँव चलने में सुविधा होगी। परन्तु थके हुए शरीर के साथ इस दुर्गम पथ को पार करना उनके लिये असाध्य-सा होता जा रहा था – बोझ के सन्तुलन को बनाये रखकर ऊबड़-खाबड़ कठिन फिसलनदार पथ पर पाँव बढ़ा पाना अब उनके लिये असम्भव होता जा रहा था। इसके बाद उन्होंने पोटली को सिर पर रखकर चलने का प्रयास किया। शिष्य की यह दुरवस्था देखकर स्वामीजी ने उनकी पोटली को छीनकर अपने सिर पर रख लिया और अपने हाथ बढ़ाकर शिष्य के शरीर को भी दृढ़तापूर्वक पकड़कर पथ पर चलते रहे। परवर्ती काल में सदानन्द इस घटना का स्मरण करते हुए अश्रुपात् किया करते और अभिमान तथा गर्व के साथ कहते – "अरे, ऐसे न होने पर क्या स्वामीजी मेरे गुरु होते? शान्त भाव से वे मेरे जूते सिर पर उठाये चल पड़े! और मैं भी उन दिनों ऐसा बुद्धू था और स्वामीजी की बातें सुनते हुए मैं इतना अन्यमनस्क हो गया था कि स्वयं गुरुदेव ही मेरे जूते अपने सिर पर लेकर चल रहे हैं, इसका मुझे खयाल ही नहीं आया। मेरा सोलहों आने मन केवल उनकी बातों में ही लगा हुआ था। इसी को कहते हैं स्वामीजी का प्रेम। अरे, मैंने स्वामीजी की सेवा करने के लिये ही जन्म लिया है। मैं संसार में और कुछ भी नहीं चाहता।" फिर वे अनेकों बार आवेगपूर्वक यह भी कहते – " 'उल्टा समझलीं राम' हुआ, उन्हीं को मेरा बोझ ढोना पड़ा। केवल बोझ ही नहीं, बल्कि मेरे भारी जूते तक उन्होंने सिर पर वहन किये। ऐसे न होने पर क्या मैं उन्हें गुरु बनाता?"

❖ (क्रमशः) ❖

न मे भक्तः प्रणश्यति (८)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन् २००८ में भारतीय संस्कृति संसद, कलकत्ता में अरुण चूड़ीवाल जी के आग्रह पर दिया था। इसका टेप से अनुलिखन रायपुर के श्री राजेन्द्र तिवारी जी ने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

अब उससे भी बड़ी बात भगवान कह रहे हैं, **मत्परः** – मेरे परायण हो। कोई धन-परायण है, कोई इन्द्रिय-परायण है, कोई भोजनपरायण, जिह्वापरायण है। अभी चार छः महीनों में चुनाव होने वाले हैं, ऐसा सुनता हूँ। तो भारत में ऐसे लाखों पद-परायण हैं। शायद आपके कलकते में ही एक दो लाख मिल जायें। तो परायण का अर्थ होता है समर्पित हो जाना, जुड़ जाना। जिसके अतिरिक्त और कोई विकल्प न रह जाय, उसको कहते हैं 'मत्परः'। जैसे हम लोग हिन्दी में कहते हैं – तत्पर – किसी कार्य के लिए तत्पर हो जाना। तत् माने वह, पर माने परायण – कार्य में लग जाना। जैसे चलो, एयरपोर्ट चलना है, चलो आज क्रिकेट देखने जाना है या क्रिकेट खेलना है। फुटबाल खेलना है, तैयार हो जाओ। तत्परता से खेलो, उसके अनुसार उसमें लीन हो जाओ। तो भगवान कहते हैं मत्परः। हे अर्जुन ! मुझे ही सर्वश्रेष्ठ परम चूड़ामणि तू समझ। मेरे लिए कर्म कर और मेरे परायण हो। उसके बाद कहते हैं – **मद्भक्तः** – तू मेरा भक्त हो जा। वैसे भक्ति प्रेम का ही विकसित स्वरूप है। वह लम्बा प्रसंग है, उसकी चर्चा अभी सम्भव नहीं है। भगवान क्या कहते हैं? मेरे लिए कर्म कर, मेरे परायण हो और मेरा भक्त हो जा। ये तीन चीजें भगवान के लिए हैं। अब आप और हम पर भगवान ने क्या जवाबदारी दे रखी है? भक्त होने में हमारा भी तो कोई योगदान होना चाहिये। चाहे छोटा-सा योगदान ही क्यों न हो। हमारे लिए उनका क्या आदेश है?

भगवान कहते हैं – **संगवर्जितः** – साधक या भक्त को अनासक्त होना चाहिये। उसके जीवन में आसक्ति नहीं होनी चाहिये। दूसरी शर्त भगवान ने लगा दी – **निर्वैरः सर्वभूतेषु** – समस्त प्राणियों के प्रति, समस्त ब्रह्माण्ड के प्रति तू निर्वैर हो जा। भगवान केवल निर्वैर कहते तो ठीक था, पर वे कहते हैं, तेरे मन में किसी भी प्राणी के प्रति बैर-भाव न रहे। अगर ऐसा तू होगा, तो क्या होगा? – **सः माम् एति** – ऐसा व्यक्ति मुझको प्राप्त करता है। तुम मुझको ही प्राप्त करोगे।

यदि हम इन तीनों शर्तों को पूरा करेंगे, तो हम अपने आप भगवत्परायण हो जायेंगे। उसके लिए हमें प्रयत्न नहीं करना पड़ेगा। हमें प्रयत्न करना पड़ेगा आसक्तिरहित, निर्वैर और भक्त होने के लिये। मैं ज्ञानयोग की बात नहीं कह रहा हूँ। परसों एक सज्जन मुझसे ज्ञानयोग की चर्चा कर रहे थे। उसमें तो पुरुषार्थ की ही बात है। जैसे मैं अनुभव करूँ कि मेरे मन में बैरभाव है और साथ ही यह निश्चय करूँ कि मुझे बैरभाव से मुक्त होना है। किन्तु यदि तुरन्त यह बात मेरे समझ में आ जाय कि यह मैं अपने प्रयत्न से नहीं कर सकता। यह प्रभु की कृपा से ही सम्भव है और प्रभु से प्रार्थना करूँ – हे प्रभो रक्ष माम् ! हे प्रभो शाधि माम् ! हे प्रभु मेरी रक्षा कीजिये, मुझे रास्ता दिखाइये। मैं आपके शरणागत हूँ। तब बैरभाव से मुक्त होना, मेरा लिये आसान हो जायेगा। अर्जुन वही करते हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा – **शिष्यस्तेऽहम् शाधि माम् त्वाम् प्रपन्नम्** (गीता-२/७) – हे प्रभु मैं आपकी शरण में आया हूँ। आप मेरी रक्षा करें ! यदि हम जीवन में सब प्रकार की सुरक्षा चाहते हैं, तो भगवान ने एक ही शर्त हमारे लिए रखी है और वह है भक्त बनने का। वे कहते हैं कि तुम भक्त बनने का प्रयत्न करो, तो सब प्रकार से सुरक्षित रहोगे। क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा है – **न मे भक्तः प्रणश्यति**। यदि हम भक्त बन जायें, तब तो भगवान हमारे साथ हैं ही। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि केवल प्रयत्न मात्र से हम भक्ति-लाभ नहीं कर सकते। भक्ति भी भगवान की कृपा से ही आती है, इसका संरक्षण भी भगवान ही करते हैं। भक्त बनने के प्रयत्न में भी भगवान हमारी कैसे रक्षा करते हैं और भगवान के भक्त कैसे उन्हें परेशान करते हैं ! इसका एक दृष्टान्त देखे। महाभारत का युद्ध लगभग बीच में है और अर्जुन युद्ध से लौटे हैं। भीष्म पितामह शरशैय्या पर हैं। भयानक युद्ध हो रहा है। युधिष्ठिर घायल हो गये थे। उनके सेवकों, मित्रों ने उन्हें युद्धभूमि से हटाकर शिविर में लाकर रखा। घावों पर दवा आदि लगाकर उनकी सेवा हो रही थी। तभी कृष्ण और अर्जुन आते हैं। युधिष्ठिर उत्साह से अर्जुन से पूछते हैं कि क्या तुमने कर्ण का वध कर दिया? अर्जुन प्रणाम करके कहते हैं कि नहीं महाराज! युधिष्ठिर क्षुब्ध होकर कहते हैं – धिक्कार है तेरे गाण्डीव-धनुष को ! धिक्कार है तेरे शौर्य को ! धिक्कार है तेरे धनुर्धर होने को ! अर्जुन ने तुरन्त गाण्डीव धनुष फेंक दिया और तलवार निकाल लिया। सभी लोग सोचने लगे, क्या आश्चर्य है ! किन्तु एक ही व्यक्ति था जिसे आश्चर्य नहीं हुआ और वह थे भगवान कृष्ण। उन्होंने अर्जुन से पूछा, बोलो क्या बात है? तुमने तलवार क्यों निकाल लिया? तब अर्जुन कृष्ण से कहते हैं, मैंने ऐसी प्रतिज्ञा की है कि यदि कोई व्यक्ति मेरे गाण्डीव और मेरे शौर्य को धिक्कारे, इनकी निन्दा करे, इनका तिरस्कार करे, तो मैं उसका सिर काट दूँगा। अब यहाँ नयी विपत्ति उपस्थित हो गई। कहाँ तो अभी कौरवों से लड़कर मरने-जीने की बात है और कहाँ एक भाई, दूसरे भाई का सिर

काटने को तैयार है। भगवान ने कहा ठीक है, तेरी प्रतिज्ञा भी पूर्ण हो और युधिष्ठिर भी जीवित बचें। क्या उपाय है इसका? तो भगवान ने कहा – अपने गुरुजनों को, बड़े भाई को, पिता को, जो भी अपने से बड़े हों, उनका अपमान कर देना, उनको कटुवचन कहना, उनकी मृत्यु के समान है। तब अर्जुन ने युधिष्ठिर को खूब गालियाँ सुनाई, बहुत से कटुवचन कहे। इससे युधिष्ठिर की प्राण रक्षा हो गयी। अच्छा, तो अब अर्जुन को तलवार म्यान में रख लेना था, पर उन्होंने फिर से तलवार उठाई। भगवान कृष्ण ने कहा कि भई, अब क्या बात है? दूसरे सभी लोग भी सोचने लगे। अर्जुन ने कहा – आप ही लोगों ने कहा हैं, गुरुजनों ने मुझे पढ़ाया है कि अपने गुरुजनों का अपमान करने पर आत्महत्या कर लेना चाहिए, अपना गला काट लेना चाहिए, तो मैंने अपने बड़े भाई का अपमान किया है, गाली दी है, कटु-वचन कहे हैं, तो अब मैं अपना गला काट लूँगा। अब सभी विपत्ति में पड़े कि यह क्या हुआ। भगवान ने फिर अर्जुन से कहा – थोड़ा ठहरो। जानते हो, आत्महत्या क्या है? वह है अपने को मारना। सबसे बड़ी आत्महत्या है, गुरुजनों के सामने अपनी प्रंशसा करना। तो तुम अपने शौर्य और वीरता की प्रशंसा यहाँ इन सबके सामने करो। तब अर्जुन ने अपनी प्रशंसा की और तलवार म्यान में रखा तथा वे विजयी हुए। तो इस प्रकार भगवान ने अपने भक्त की रक्षा की – **न मे भक्त: प्रणश्यति**।

भगवान सब समय हमारी रक्षा करते हुए हमारे साथ हैं। कठिनाई हमारी यह है कि हम विश्वास नहीं कर पाते हैं। हमारा अहंकार, हमारा अभिमान हमको यह मानने नहीं देता है। भगवान एक ही चीज हम से चाहते हैं, सभी बातों में 'मैं नहीं तू'। भगवान श्रीरामकृष्ण इसके जीवित उदाहरण थे। उनके वेदान्त के गुरु परमहंस परिव्राजकाचार्य तोतापुरी महाराज, जो पंजाब के थे और अद्वैत वेदान्ती थे। नर्मदा के तट पर उन्होंने दीर्घ चालीस वर्षों तक तपस्या की थी। वे छोटी अवस्था में ही अपने गुरु के पास आश्रम में चल गये थे। वे अद्वैत वेदान्त के अनुसार निर्विकल्प समाधि लाभ कर चुके थे। वे दिगम्बर रहा करते थे। सुना जाता है कि वे दीर्घकाय थे। उनका पंजाब का सुदृढ़ शरीर था और उन्होंने चालीस वर्षों तक नर्मदा के तट पर तपस्या की थी। उसके बाद यह निश्चय किया कि परिव्राजक होकर घूमूँगा तथा तीन दिन से अधिक किसी एक स्थान पर नहीं रहूँगा। वह दूसरा लम्बा प्रसंग है, केवल संकेत में आपको बता रहा हूँ कि कैसे भगवान अपने भक्त की रक्षा करते हैं? न मे भक्त: प्रणश्यति कब होता है। वे नाव से आए और दक्षिणेश्वर के घाट में उतरे। उनके पास एक लोहे का चिमटा था जिसे साधु लोग रखते हैं और एक लोटा था। इसके अतिरिक्त उनके पास कुछ नहीं था। वे दिगम्बर थे, कपड़े-वपड़े का सवाल ही नहीं था – **भिक्षान्नमात्रेण सदातुष्टिमंत:** – भिक्षा में प्राप्त अन्न से ही सदा संतुष्ट रहने वाले महात्मा थे। इसलिए हाथ में जो भिक्षा मिली, उसी को ली, परिग्रह का सवाल ही नहीं था।

श्रीरामकृष्ण, दक्षिणेश्वर के घाट में बैठे हुए हैं। आप लोगों में जिन लोगों ने देखा है दक्षिणेश्वर का वह मन्दिर वाला घाट, उँचे स्थान पर जिसे बंगला में उठान कहते हैं, श्रीरामकृष्ण वहीं बैठे थे। उनकी बाईस-तेईस वर्ष की अवस्था थी। तोतापुरी जी नाव से उतरे और श्रीरामकृष्ण को ऊपर से नीचे तक देखा। उस समय के बंगाल में तंत्र का बहुत अधिक प्रचार था। तंत्र की और तथाकथित भक्ति की इस बंग-भूमि में वेदान्त का इतना बड़ा अधिकारी देखकर तोतापुरी जी आश्चर्यचकित हो गये। जो सिद्ध पुरुष होते हैं, सचमुच जो आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, भगवान के शब्दों में उनकी एकमात्र इच्छा रहती है – **लोकसंग्रह चिकीर्षु:** – लोक कल्याण ही उनके जीवन की एकमात्र कामना होती है। कैसे किसी अधिकारी पुरुष को मैं ज्ञान दे सकूँ, यह उनकी हार्दिक इच्छा होती है। तोतापुरी जी श्रीरामकृष्ण को देखते हैं और उनसे पूछते हैं (श्रीरामकृष्ण हिन्दी जानते थे, बोलते भी थे) – बेटा, तू वेदान्त की साधना करेगा? तो उन्होंने कहा, मैं अपनी माँ से पूछकर आता हूँ। तोतापुरी जी ने कहा, जा जल्दी से पूछ कर आ, मैं अधिक दिनों तक कहीं नहीं रहता। तोतापुरी ने सोचा कि अपनी गर्भधारिणी माँ से पूछ कर आयेगा। किन्तु ठाकुर काली माँ की मन्दिर के तरफ गये। तोतापुरी हँसने लगे – इतना बड़ा अधिकारी, पर इतना अज्ञानी है। ठीक है, जब मैं इसको वेदान्त सिखाऊँगा, तब इसका अज्ञान दूर हो जायेगा। श्रीरामकृष्ण तो माँ भवतारिणी के पुत्र थे। मन्दिर में गये और माँ काली से कहा – माँ, एक नागा साधु आया है, वह मुझसे कहता है, तुम वेदान्त की साधना करोगे? माँ भगवती तो उनसे बात करती थीं। माँ ने कहा, हाँ, मैंने तेरे लिए ही उसे यहाँ लाया है। वह जो कहता है, तू वह कर। श्रीरामकृष्ण ने आकर कहा, हाँ, मेरी माँ ने आज्ञा दे दी है, मैं वेदान्त सीखूँगा। जब ऐसी निर्भरता जीवन में आती है, तब भगवान हमारी रक्षा करते हैं – **न मे भक्त: प्रणश्यति**। फिर तोतापुरी जी महाराज ने उन्हें संन्यास दिया और निर्विकल्प समाधि की अनुभूति कराई। इस प्रकार भक्त बनने पर भगवान स्वयं सब व्यवस्था कर देते हैं। अत: हमें केवल भक्त होने का प्रयत्न करना है, फिर भगवान हमारी सब सहायता करेंगे। ❖ **(क्रमश:)** ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (१)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। उनमें से ईश तथा केन उपनिषदों के शांकर भाष्य का स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ सरल अनुवाद हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं। अब कठोपनिषद्-भाष्य का अनुवाद प्रस्तुत है। इसमें भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो सके। –सं.)

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु।
मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

अन्वयार्थ – **ॐ** ब्रह्म (परमात्मा) **नौ** हम (गुरु-शिष्य) दोनों की, **सह** एक साथ **अवतु** रक्षा करें; **नौ** हम दोनों को **सह** एक साथ **भुनक्तु** ब्रह्मविद्या-फल का भोग कराएँ; (हम दोनों) **सह** एक साथ **वीर्यम्** (ब्रह्मविद्या के लिये) पराक्रम **करवावहै** प्राप्त करें; **नौ** हम दोनों की **अधीतम्** प्राप्त की हुई विद्या **तेजस्वि** अर्थ की प्रकाशक **अस्तु** हो; **मा विद्विषावहै** हम एक दूसरे के प्रति विद्वेष का भाव न रखें। **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः** त्रिविध विघ्नों[१] की शान्ति हो।

भावार्थ – परमात्मा हम आचार्य तथा शिष्य – दोनों की समान रूप से रक्षा करें; हम दोनों को समान रूप से ब्रह्मविद्या-रूपी फल प्रदान करें; हम दोनों समान रूप से विद्या के लिये शक्ति-सामर्थ्य अर्जित कर सकें; हम दोनों द्वारा प्राप्त की हुई विद्या सार्थक हो; हम दोनों आपस में ईर्ष्या-द्वेष न करें। ॐ तीनों प्रकार के विघ्न-बाधाओं की शान्ति हो।

भाष्य-भूमिका – ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्या-आचार्याय नचिकेतसे च।

भाष्यार्थ – ब्रह्मविद्या के आचार्य भगवान वैवस्वत (सूर्यपुत्र) धर्मराज यम और (शिष्य) नचिकेता को हम प्रणाम करते हैं।

अथ काठक-उपनिषद्-वल्लीनां सुखार्थ-प्रबोधनार्थम्-अल्प-ग्रन्था वृत्तिः आरभ्यते।

अब काठक उपनिषद् की वल्लियों (अध्यायों) का समुचित बोध कराने हेतु संक्षिप्त ग्रन्थ के रूप में यह वृत्ति (व्याख्या) आरम्भ की जाती है।

सदेः धातोः विशरण-गति-अवसादन-अर्थस्य-उप-नि-पूर्वस्य क्विप्-प्रत्यय-अन्तस्य रूपम् 'उपनिषद्' इति।

१. आध्यात्मिक विघ्न (शारीरिक तथा मानसिक रोग आदि), आधिदैविक विघ्न (प्रारब्ध तथा प्राकृतिक दुर्घटनाएँ) और आधिभौतिक विघ्न (हिंस्र प्राणियों के द्वारा आक्रमण आदि) – ये त्रिविध विघ्न दूर हों।

उपनिषत्-शब्देन च व्याचिख्यासित-ग्रन्थ-प्रतिपाद्य-वेद्य-वस्तु-विषया विद्या उच्यते।

विशरण (नाश), गति (प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिलता) – अर्थवाले 'सद्' धातु के पूर्व 'उप' (निकट) तथा 'नि' (निश्चय) उपसर्ग लगाकर और उसके अन्त में 'क्विप्' प्रत्यय जोड़ने से 'उपनिषद्' शब्द बना। व्याख्या की इच्छा से गृहीत इस ग्रन्थ – 'उपनिषद्' शब्द द्वारा प्रदर्शित किये जानेवाले तथा वेद्य (जानने योग्य) विषय-वस्तु को 'विद्या' कहते हैं।

केन पुनः अर्थ-योगेन उपनिषत्-शब्देन विद्या उच्यते – इति।

अब बताते हैं कि ('सद्' धातु के तीन अर्थों में से) किस अर्थ के द्वारा 'उपनिषद्' शब्द का 'विद्या' अर्थ कहा गया।

उच्यते – ये मुमुक्षवः दृष्ट-आनुश्रविक-विषय-वितृष्णाः सन्तः उपनिषत्-शब्द-वाच्यां वक्ष्यमाण-लक्षणां विद्याम्-उपसद्य-उपगम्य तत्-निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषाम् अविद्या-आदेः संसार-बीजस्य विशरणात्-हिंसनात्-विनाशनात् आदि-इति-अनेन-अर्थ-योगेन विद्या-उपनिषद् इति उच्यते। तथा च वक्ष्यति – "निचाय्य तं मृत्यु-मुखात् प्रमुच्यते" (कठ. उ. १/३/५) इति।

जो मुमुक्षुगण इस लोक तथा परलोक के विषय-भोगों से वितृष्ण (अर्थात् वैराग्य-सम्पन्न) होकर 'उपनिषद्' शब्द द्वारा निर्दिष्ट वक्ष्यमाण (कहे जा रहे) विद्या का आश्रय लेकर निष्ठा तथा नि:संशय (दृढ़) चित्त के साथ इसका अध्ययन करते हैं, उनके संसार-बीज अर्थात् जन्म-मरण के कारणभूत अविद्या आदि को विशीर्ण (शिथिल) और नाश कर देती है। जैसा कि आगे कहा जायेगा – "उस (आत्मा) को जानकर (मुमुक्षु साधक) मृत्यु के मुख से छूट जाता है।" (कठ. उ. १/३/५)

पूर्वोक्त-विशेषणान् मुमुक्षून् वा परं ब्रह्म गमयति इति ब्रह्म-गमयितृ-त्वेन योगाद्-ब्रह्मविद्या-उपनिषद्। तथा च वक्ष्यति – "ब्रह्म प्राप्तो विरजो-अभूत्-विमृत्युः" (कठ. उ. २/३/१८) इति।

अथवा (गति अर्थ में) पूर्वोक्त विशेषताओं वाले मुमुक्षुओं

को यह परम ब्रह्म तक ले जाती है – ब्रह्म-प्राप्ति करानेवाली होने के कारण इस (गति या प्रेरणा) अर्थ को जोड़ने से भी ब्रह्मविद्या 'उपनिषद्' कहलाती है। जैसा कि कहा जायेगा – "(नचिकेता) (धर्म-अधर्म-रूपी) रज (मलिनता) से रहित होकर और (आवागमन-रूपी) मृत्यु से मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गये।" (कठ. उ. २/३/१८)

लोक-आदिः ब्रह्मजज्ञः यः अग्निः तत्-विषयायाः विद्यायाः द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोक-फल-प्राप्ति-हेतु-त्वेन गर्भवास-जन्म-जरा-आदि-उपद्रव-वृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्य अवसादयितृ-त्वेन शैथिल्य-अपादनेन धातु-अर्थ-योगात्-अग्निविद्या अपि 'उपनिषद्' इति उच्यते।

फिर नचिकेता ने अपने द्वितीय वर से – भूः आदि लोकों की सृष्टि के पूर्व और ब्रह्म से उत्पन्न जिस अग्नि-तत्त्व अर्थात् विराट् के विषय में जानने की इच्छा प्रगट की थी, उसी अग्निविद्या के द्वारा स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति होती है तथा उसी के फलस्वरूप गर्भवास, जन्म-वार्धक्य तथा मृत्यु आदि के कष्टों को भोगना पड़ता है; इनका अवसादन अर्थात् (धीरे-धीरे) शिथिलता सम्पन्न करनेवाली होने के कारण उस धातु-अर्थ के अनुसार अग्निविद्या को भी 'उपनिषद्' कहा जाता है।

तथा च वक्ष्यति – "स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" (कठ. उ. १/१/१३) इत्यादि।

वैसा ही (श्रुति में) भी कहा गया है – "स्वर्ग की कामना करनेवाले अमृतत्व प्राप्त करते हैं" (क. उ. १/१/१३) आदि।

ननु च, 'उपनिषद्' शब्देन अध्येतारः ग्रन्थम् अपि अभिलपन्ति। उपनिषदम् अधीमहे उपनिषदम् अध्यापयाम इति च।

शंका – परन्तु अध्ययन करनेवाले लोग 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ 'ग्रन्थ' भी करते हैं – जैसे, हम 'उपनिषद्' का अध्ययन कर रहे हैं या ('उपनिषद्' का) अध्यापन कर रहे हैं।

एवम्, न एषः दोषः। अविद्या-आदि-संसार-हेतु-विशरण-आदेः सदि-धात्वर्थस्य ग्रन्थ-मात्रे असम्भवात् विद्यायां च सम्भवात्।

उत्तर – यह दोष नहीं है। सद् धातु के अर्थरूप संसार के कारणभूत अविद्या आदि का नाश आदि केवल ग्रन्थ के द्वारा असम्भव, परन्तु ब्रह्मविद्या के द्वारा ही सम्भव है।

ग्रन्थस्य अपि तादर्थ्येन तत्-शब्दत्व-उपपत्तेः, 'आयुः वै घृतम्' इत्यादिवत्। तस्मात् विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषद् शब्दः वर्तते, ग्रन्थे तु भक्ति इति।

फिर ग्रन्थ का भी उद्देश्य जब वही (ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन ही) है, अतः ग्रन्थ के लिये भी 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग उचित है; वैसे ही जैसा कि कहते है – "घी ही आयु है"। (यहाँ जैसे आयु का कारण होने से घी को ही आयु कह दिया जाता है, वैसे ही ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ के लिये भी उसके प्रतिपाद्य विद्या के बोधक 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग असंगत नहीं हो सकता।) अतः 'उपनिषद्' शब्द अपने मुख्य अर्थ के द्वारा ब्रह्मविद्या का बोध कराता है और (आंशिक रूप से) ग्रन्थ अर्थवाला भी कहा जाता है।

एवम् उपनिषद्-निर्वचनेन एव विशिष्टः अधिकारी विद्यायाम् उक्तः। विषयः च विशिष्टः उक्तः विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्म-भूतम्। प्रयोजनं च अस्याः उपनिषदः आत्यन्तिकी संसार-निवृत्तिः ब्रह्म-प्राप्ति-लक्षणा। सम्बन्धः च एवंभूत-प्रयोजनेन उक्तः।

इस प्रकार 'उपनिषद्' शब्द के व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ के द्वारा ही इस ब्रह्मविद्या के विशिष्ट **अधिकारी** के विषय में कह दिया गया। अन्तरात्मा-स्वरूप ब्रह्म को विद्या का विशिष्ट **विषय** भी कह दिया गया। ब्रह्मप्राप्ति के चरम रूप में संसार की पूर्ण निवृत्ति – के रूप में इस उपनिषद् का **प्रयोजन** भी बता दिया गया। उक्त प्रयोजन के साथ ब्रह्मविद्या का **सम्बन्ध** भी कह दिया गया।

अतः यथोक्त-अधिकारि-विषय-प्रयोजन-सम्बन्धायाः विद्यायाः करतल-न्यस्त-आमलकवत् प्रकाशकत्वेन विशिष्ट-अधिकारि-विषय-प्रयोजन-सम्बन्धाः एताः वल्ल्यः भवन्ति इति। अतः ताः यथा प्रतिभानं व्याचक्ष्महे।

इस प्रकार अपने विशिष्ट अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन से सम्पन्न ये वल्लियाँ (अध्याय) उपरोक्त विशिष्ट अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन से सम्पन्न (मुमुक्षु को) यह विद्या हाथ में रखे आँवले के समान आत्मतत्त्व का बोध करानेवाली हैं। अब हम अपनी समझ के अनुसार इनकी व्याख्या करने जा रहे हैं।

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१॥

अन्वयार्थ – वाजश्रवसः (अन्नदान के द्वारा यश प्राप्त करनेवाले वाजश्रवा के पुत्र) वाजश्रवस ने **उशन्** यज्ञफल की इच्छा से **ह वै** – एक बार (यज्ञ में) **सर्व-वेदसम्** – अपना सर्वस्व **ददौ** दान कर दिया। **ह** – कहते हैं – **तस्य** – उनके **नचिकेताः** नचिकेता **नाम** नाम का **पुत्र** एक पुत्र **आस** था।

भावार्थ – कहते हैं कि (अन्नदान आदि के द्वारा यश प्राप्त करनेवाले वाजश्रवा के पुत्र) वाजश्रवस (उद्दालक) ने एक बार यज्ञ में फलप्राप्ति की इच्छा से अपना सर्वस्व दान कर दिया। उनका नचिकेता नाम का एक पुत्र था।

भाष्य – तत्र आख्यायिका विद्या-स्तुति-अर्था। उशन्-कामयमानः, ह वा इति वृत्तार्थ-स्मरणार्थौ निपातौ। वाजम्-

अन्नम्, तत्-दान-आदि-निमित्तं श्रवः यशः यस्य स वाज-श्रवा, रूढितः वा । तस्य अपत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेन ईजे तत्फलं कामयमानः । सः तस्मिन् क्रतौ सर्ववेदसम् सर्वस्वम् धनम् ददौ दत्तवान् । तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किल आस बभूव ।।

भाष्यार्थ – इस उपनिषद् में आख्यायिका (कथा) ब्रह्मविद्या की स्तुति के निमित्त दी गयी है। **उशन्** का अर्थ है इच्छा करते हुए, **ह वा** ये दोनों निपात (अव्यय) हैं, जो पुरानी घटना का स्मरण कराने हेतु हैं। वाज का अर्थ है अन्न। उसके दान आदि के कारण **श्रवः** अर्थात् यश को प्राप्त हुए हैं जो, वे **वाजश्रवा** हुए। या फिर यह (माता-पिता द्वारा प्रदत्त) एक विशिष्ट नाम भी सकता है। उनके पुत्र **वाजश्रवस** (उद्दालक) ने विश्वजित् नामक यज्ञ का फल पाने की इच्छा से अपना सर्वस्व देकर उस यज्ञ का अनुष्ठान किया। यज्ञ में उन्होंने अपनी सारी धन-सम्पदा दान कर दी। उस यजमान के नचिकेता नाम का एक पुत्र था ॥ ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

वायुनाऽऽनीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते ।
मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते ।।१७२।।

अन्वय – (यथा) वायुना मेघः आनीयते पुनः तेन एव नीयते (तथा) मनसा बन्धः कल्प्यते तेन एव मोक्षः कल्प्यते ।

अर्थ – जिस प्रकार वायु ही (आकाश में) बादल को लाते हैं और फिर वे ही उन्हें हटाकर ले जाते हैं, उसी प्रकार मन के द्वारा ही बन्धन की कल्पना की जाती है और उसी के द्वारा मोक्ष की भी कल्पना की जाती है।

देहादि-सर्वविषये परिकल्प्य रागं
बध्नाति तेन पुरुषं पशुवद्-गुणेन ।
वैरस्यमत्र विषवत् सुविधाय पश्चा-
देनं विमोचयति तन्मन एव बन्धात् ।।१७३।।

अन्वय – तत् मनः एव देहादि-सर्व-विषये रागं परिकल्प्य तेन गुणेन पशुवत् पुरुषं बध्नाति। पश्चात् (तत् मन एव) अत्र विषवत् वैरस्यं सुविधाय एनं बन्धात् विमोचयति ।

अर्थ – वह मन ही देह-इन्द्रिय तथा रूप-रस आदि समस्त विषयों में आसक्ति की सृष्टि करता है; और जैसे रस्सी के द्वारा पशु को बाँधा जाता है, वैसे ही इस आसक्ति के द्वारा जीव को बाँधता है। फिर बाद में देह आदि समस्त विषयों के प्रति विष के समान विरक्ति की सृष्टि करके इस बन्धन से छुड़ा देता है।

तस्मान्मनः कारणमस्य जन्तो-
र्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने ।
बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणै-
र्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम् ।।१७४।।

अन्वय – तस्मात् अस्य जन्तोः बन्धस्य च मोक्षस्य वा विधाने मनः कारणम्। रजोगुणैः मलिनं (मनः) बन्धस्य हेतुः विरजः तमस्कम् शुद्धं (मनः) मोक्षस्य (हेतुः भवति) ।

अर्थ – अत: मन ही जीव के बन्धन तथा मोक्ष का कारण है। रजोगुण से मलिन हुआ मन बन्धन का कारण होता है और रजोगुण तथा तमोगुण से शुद्ध हुआ मन मोक्ष का कारण है।

विवेक-वैराग्य-गुणातिरेका-
च्छुद्धत्वमासाद्य मनो विमुक्त्यै ।
भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षो-
स्ताभ्यां दृढाभ्यां भवितव्यमग्रे ।।१७५।।

अन्वय – विवेक-वैराग्य-गुणातिरेकात् शुद्धत्वं आसाद्य मनः विमुक्त्यै भवति। अतः बुद्धिमतः मुमुक्षोः अग्रे दृढाभ्यां ताभ्यां भवितव्यम् ।

अर्थ – विवेक और वैराग्य – इन दो गुणों की वृद्धि से शुद्धत्व को प्राप्त होकर, मन मुक्ति के लिये तैयार होता है। अत: बुद्धिमान मुमुक्षु का यह कर्तव्य है कि वह सर्वप्रथम इन्हीं दोनों गुणों को दृढ़ करने का प्रयास करे।

मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्य-भूमिषु ।
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः ।।१७६।।

अन्वय – मनः नाम महाव्याघ्रः विषय-अरण्य-भूमिषु चरति। अत्र मुमुक्षवः ये साधवः गच्छन्तु न ।

अर्थ – मन नाम का विशाल बाघ विषय-रूपी वनभूमि में घूमता रहता है। मुमुक्षु साधकों के लिये उचित है कि वे इस विषय-वन में न जायें।

मनः प्रसूते विषयानशेषान्
स्थूलात्मना सूक्ष्मतया च भोक्तुः ।
शरीर-वर्णाश्रम-जातिभेदान्
गुणक्रिया-हेतुफलानि नित्यम् ।।१७७।।

अन्वय – स्थूल-आत्मना च सूक्ष्मतया अशेषान् विषयान् मनः प्रसूते च भोक्तुः शरीर-वर्ण-आश्रम-जाति-भेदान् गुण-क्रिया-हेतु-फलानि नित्यम् ।

अर्थ – यह मन जाग्रत अवस्था में स्थूल रूप से और स्वप्न में सूक्ष्म रूप से, असंख्य विषयों की सृष्टि करता है और भोक्ता जीव के शरीर, वर्ण, आश्रम, जाति के भेदों तथा उनके गुण, क्रिया, क्रिया के कारण एवं उससे प्राप्त होने वाले फलों का निरन्तर सृजन करता रहता है। ❖ **(क्रमशः)** ❖